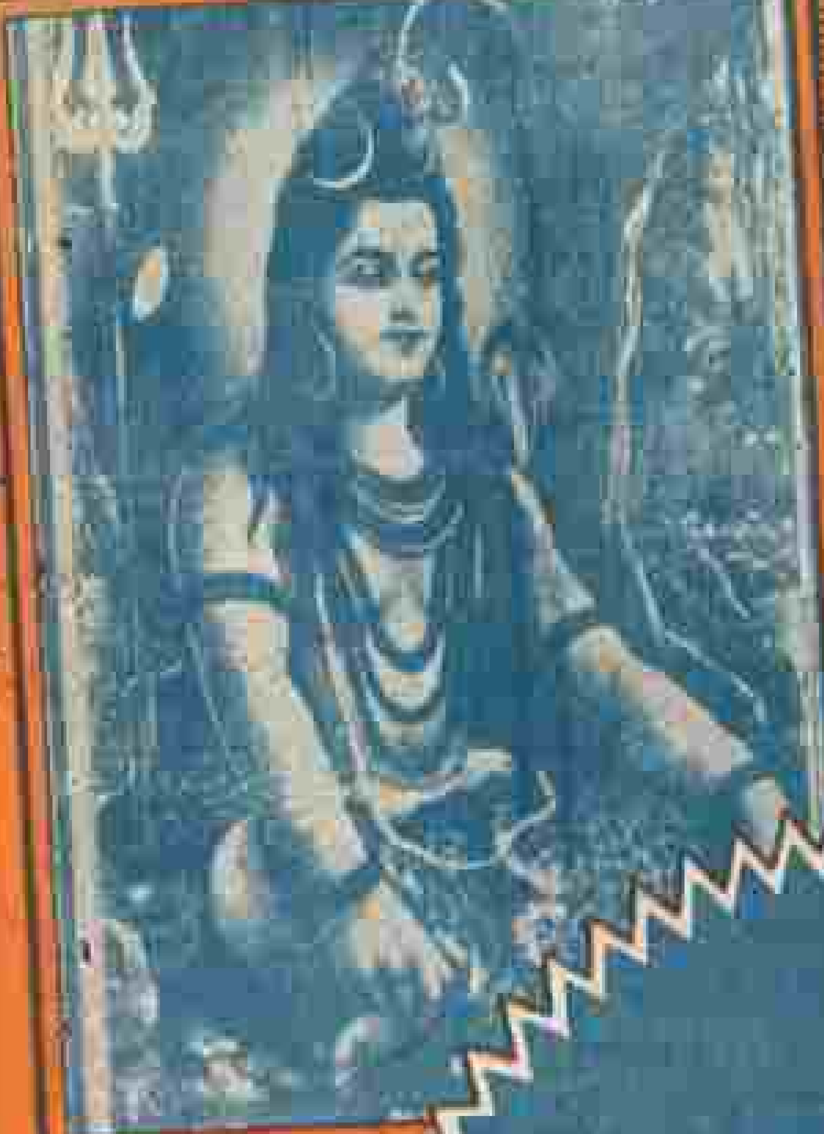

संस्थापक सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

वर्ष- १७

अंक- ५

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन संवाई. आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सवाई

❁ नान्यतः स्यात् १
❁ श्रद्धा मयो अयम् पुरुषः २
योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
❁ सिद्ध-लोक ४
श्री डा० बालमुकुन्द, प्रवक्ता
❁ सद्गुरु की प्राप्ति : ज्ञान का अभ्युदय ९
श्री जगदीश नारायण उपाध्याय
❁ स्मृति उपाख्यान १३
श्री आचार्य चन्द्रहास शर्मा
❁ साधना में महत्ता २०
श्री डा० विक्रमसिंह
❁ रोग और उनके कुछ उपयोगी उपचार २४
ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश पालीवाल
❁ सूर्य किरणों की उपयोगिता २८
एक विशेषज्ञ
❁ वाणी का महत्व ३१
श्री सूरजप्रकाश शर्मा
❁ योगाभ्यासी श्री एकनाथ जी ३५
श्री केशव जी उपाध्याय
❁ देखो कंटीली कठिन डगरिया (कविता) ४०
सुश्री चन्द्रावली राघव बालब्रह्मचारी
❁ भज-गुरुं-भज-गोविन्दम् ४१
आचार्य शंकर द्वारा निरूपित तत्वबोध
❁ ध्यान-दीप ४३
श्री शिवानन्द जी
❁ हे गुरुदेव ! ४६
ओमप्रकाश मिश्रा (नवा बाजार)
❁ उपवास का दर्शन एवं तर्क ४७
योगी श्री हृदयनारायण जी

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
अगस्त १९८४

वार्षिक मूल्य २५ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १७
अङ्क ५

अगस्त
१९८४

ध्यात्वे ध्यान मविद्य परमं ब्रह्म शुद्ध सनातनम्,
मर्त्यो मृत्युमुखं विहरतो, मुक्तिं प्राप्नोति सर्वदा: ।
तत्त्वाध्यात्मं बहुविधार्थं योगशास्त्रोपदेशम्,
कल्याणानां भवतु महती सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥

नान्यतः स्यात्

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे ।
बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य ॥
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां ।
योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥

अर्थात्

वेदों ने बीज और अंकुर के समान आप के दो रूप बताये हैं—

कार्य और कारण। वास्तव में आप प्राकृत रूप से रहित हैं। परन्तु इन कार्य और कारण रूपों को छोड़कर आपके ज्ञान का कोई और साधन भी नहीं है। काष्ठ-मन्थन के द्वारा जिस प्रकार अग्नि प्रकट की जाती है, उसी प्रकार योगीजन भक्तियोग की साधना से आपको कार्य और कारण दोनों में ही ढूंढ निकालते हैं, क्योंकि वास्तव में ये दोनों आप से पृथक नहीं हैं। आपके ये स्वरूप ही हैं॥

हमारा विशेष लेख—

श्रद्धा मयो अयम् पुरुषः

— योग–योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

ब्रह्मस्वरूप योग–योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में जीवात्मा–पुरुष का विवेचन करते हुए बताया है कि अयं पुरुषः श्रद्धामयः अर्थात् यह पुरुष जिसके गुण धर्म की चर्चा मैंने की है श्रद्धामय है और यह श्रद्धा भी उसके सत्वानुरूप यानी उसके अपने अन्तःकरण के अनुरूप हुआ करती है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही हुआ करता है।

अपने सखा अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान सभी सांसारिक जनों को बता रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का स्वरूप जब श्रद्धा के अनुरूप ही हुआ करता है तब श्रद्धा को श्रेष्ठतम् स्थिति में रखने का सदा प्रयत्न प्रत्येक को करना चाहिए।

श्रद्धा के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा है—

त्रिविधा भवति श्रद्धा
देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव
तामसी चेति तां शृणु॥
—गीता १७/२

अर्थात्—हे अर्जुन सुन ! देहधारी पुरुषों की श्रद्धा स्वभावजन्य यानी जन्मजात होती है, और सात्विक राजस तथा तामस इन तीन प्रकार के भेदों में बँटी हुई रहा करती है। यह प्रयत्न से पैदा नहीं होती है इसलिए इसे स्वभावजा कहा गया है। यह तर्क अथवा मस्तिष्क का नहीं किन्तु हृदय का आश्रय लेकर रहती है, इसीलिए जिन पर हमारी श्रद्धा होती है, उसका कारण हम बता नहीं पाते हैं। किसी महापुरुष अथवा पदार्थ के प्रति हम श्रद्धावान कैसे बन गये ? क्यों बन गये ? इस प्रकार के किसी प्रश्न का उत्तर हम दे नहीं पाते। क्योंकि किसी प्रश्न का युक्तियुक्त उत्तर दे पाना मस्तिष्क अथवा बुद्धि का विषय रहता है, हृदय का नहीं। हृदय–तो 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' जैसी स्थिति में आकर मौन का अवलम्बन ही ग्रहण कर लेता है। क्यों किसी के प्रति कोई श्रद्धावान् बन गया, केवल एक ही उत्तर इस का उसके समीपवर्ती वातावरण से हमें सुनने और समझने को मिल पाता है और वह यह कि 'अपनी अपनी मन की बात'। मन ने जिसे स्वीकार कर लिया—कर लिया। क्यों कर लिया, इस प्रश्न का उत्तर मौन—धारणा

के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

यह ठीक होते हुए भी जिज्ञासु यह जानने की लालसा रखते ही हैं कि अन्ततोगत्वा जन्म के साथ ही यह स्वभावज श्रद्धा आ कहाँ से गई? मन या हृदय में आ बैठने से पूर्व उसका उद्गम कहाँ था?

इस जिज्ञासा का युक्ति युक्त समाधान यही हो सकता है कि मनुष्य के अन्तःकरण में अवस्थित चित्त एक ऐसा भण्डार अथवा है जिस पर अनन्त जीवन के अनन्त संस्कार अपना शुभाशुभ रूप लिये पड़े रहते हैं। और जन्म जन्मान्तर के यही संस्कार उसकी अपनी प्रकृति या स्वभाव का निर्माण करते हैं, जिसके आधार पर मनुष्य अपना वर्तमान तथा भावी जीवन या देह धारण कर पाता है। उसके इस वर्तमान जीवन की प्रकृति या स्वभाव में ही श्रद्धा का बीज समाया हुआ होता है। श्रद्धा के सात्त्विक, राजस और तामस भेद मनुष्य के त्रिगुणि सात्त्विक, राजस और तामस संस्कार-समूह के कारण ही हो जाते हैं। जिस मनुष्य की श्रद्धा जैसी है उस का परिचय उसके आचरण तथा व्यवहार से चलता रहता है। भगवान ने इसकी परिचय की कसौटी की रूप-रेखा का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान्

यक्ष रक्षांसि राजसाः।

प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये

यजन्ते तामसाः जनाः॥

—गीता १७/४

अर्थात् सात्त्विक श्रद्धा वाले पुरुष देवताओं की उपासना करते हैं, राजसी पुरुष यक्ष-राक्षसों की उपासना करते हैं और तामसी जन भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं।

कौन व्यक्ति किस धर्म पर अपनी श्रद्धा को ठहराता है, यह विचार कर या अन्वेषण कर के हम उसकी स्वभाव जन्य श्रद्धा का परिचय प्राप्त कर सकते हैं और स्वयं अपने हृदय में समायी हुई श्रद्धा का परिचय भी इसी कसौटी पर आसानी लगा सकते हैं।

और चूँकि प्रयत्न करने का अधिकार मनुष्य को जन्मजात रूप में मिला हुआ है अतः यह उसके अपने प्रयत्नों पर निर्भर रहता है कि वह अपनी तामसी श्रद्धा को राजसी में और राजसी श्रद्धा को सात्त्विकी श्रद्धा में परिवर्तित कर डाले। आवश्यकता रहती है साधना की शास्त्रानुसार आचरण करते रहने पर—सुसंगत व तथा सद्गुरु के चरणों का आश्रय लेने पर, प्रणव का नियम पूर्वक जप करते रहने से, ध्यान योग की गहराई में उतरने का यम नियम के परिपालन के साथ अभ्यास करते रहने से तामसी और राजसी श्रद्धा के स्तर को सात्त्विकी श्रद्धा के स्तर पर ले जा सकता है।

योग साधकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि सात्त्विकी श्रद्धा ही उन्हें उनके लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ हो पाती है राजसी और तामसी नहीं।

योग दर्शन के समाधि पाद के बीसवें सूत्र में—श्रद्धा पूर्वक समाधि भूमिका तक पहुँचाने में भगवान पतञ्जलि देव ने 'श्रद्धा-वीर्य-स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्' में—जिस श्रद्धा का उल्लेख किया है, वह सात्त्विकी श्रद्धा ही है। राजसी और तामसी श्रद्धा से कभी भी श्रेय की सिद्धि नहीं हो सकती। शास्त्रों में जिस श्रद्धा को माता के समान रक्षा करने वाली कहा गया है—वह भी सात्त्विक श्रद्धा ही होती है। तामसी और राजसी श्रद्धा से संरक्षिका शक्ति का उदय नहीं हो सकता। मन की वह सात्त्विक प्रसन्नता—जिसके आ जाने पर सभी क्लेशों का अन्त हो जाता है सात्त्विक श्रद्धा के आ जाने पर ही प्राप्त हो पाती है—और यह सात्त्विक श्रद्धा तथा मनः प्रसादन दोनों ही से बिना किसी अवरोध के आगे बढ़ने की शक्ति, सामर्थ्य और बल की प्राप्ति होती है। अतः हरएक योग साधक का यह परम पावन कर्तव्य है कि श्रद्धा का जो स्वरूप योग पूर्व संस्कारों के फलस्वरूप उसकी हृदय-भूमि में पड़ा हुआ है और यदि वह राजसिक और तामसिक दिशा में जा रहा है तो उसे सात्त्विक दिशा की ओर मोड़ देने का सदैव प्रयत्न करता रहे। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने यह कहकर कि 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्', —सात्त्विक श्रद्धा की महत्ता ही प्रदर्शित की है इसलिए ऐसी महत्त्ववाली सात्त्विक श्रद्धा के संग्रह में योगसाधकों को कभी भी उपेक्षा और असावधानी नहीं बरतना चाहिए।

श्रद्धा से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से ही कर्म का सम्यक् रूपेण सम्पादन हो पाता है। मनुष्य जब सम्यक् रूप से कर्म का निर्वाह कर लेता है तभी वह मोक्ष का अधिकारी बन पाता है।

भगवान वेद ने इसीलिए स्पष्टता से घोषित किया है कि ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो पाती। और इस ज्ञान प्राप्ति का मुख्य आधार बनती है श्रद्धा। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने इसीलिए सिद्धान्त के रूप में यह दृढ़ता से उद्घोषित किया है कि श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्। गुरुचरणों बैठिए, चाहे शास्त्रों की शरण में जाइये, कल्याण तभी सम्भव हो पाता है जब मनुष्य श्रद्धावान् बनकर अपने को समर्पित करने का संकल्प ले लेता है।

यदि और अधिक गहराई से विचार करें तो पायेंगे कि श्रद्धा और ज्ञान का सम्बन्ध जितना गहरा जितना अटूट होता है उतना

सिद्ध-लोक

[पौराणिक आधार पर लोकों का सामान्य परिचय]

—श्री डा० बालमुकुन्द, प्रवक्ता (हिन्दी) गोरखपुर

पातञ्जल योग-दर्शन के अनुसार 'सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है— भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात् (विभूतिपाद, सूत्र २६)। यहां पर सूर्य का अर्थ—सूर्यद्वार या सुषुम्ना नाड़ी से है। भुवन के अन्तर्गत भूमि आदि सात लोक तथा महातल आदि सात पाताल आते हैं। भूलोक से ऊपर अन्तरिक्ष आदि उन्नत लोक हैं।

सुमेरु या हिमालय पर्यन्त भूमि को भूलोक कहते हैं। यह भूलोक स्थूल रूप से सात द्वीपों से युक्त है। सुमेरु पर्वत की चारों दिशाओं में चार पर्वत शृंग हैं। पूर्वी दिशा में पूर्वी शृंग है। यह शृंग (रजतमयी है)। वैदूर्यमणिमयी दक्षिणी शृंग दक्षिणी दिशा में स्थित है। पश्चिमी दिशा में स्फटिकमणिमयी शृंग है। इसे पश्चिमी शृंग कहते हैं। इसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की अपार क्षमता है। उत्तरी दिशा में स्थित उत्तरी शृंग सुवर्णमयी है। इन शृंगमालाओं के वर्ण के ही तत् तत् दिशाओं में आकाश का वर्ण है इस प्रकार पूर्वी आकाश श्वेत वर्ण का, पश्चिमी भाग का आकाश स्वच्छ वर्ण का, उत्तरी भाग का आकाश पीत

(पिछले पृष्ठ का शेष)

यह अधिक कल्याणकर हो जाता है। ज्ञान और विवेक से रहित श्रद्धा अन्ध श्रद्धा का रूप ले लेती है, जो धर्म का नहीं किन्तु अनेक तरह से अनर्थ का कारण बन जाती है।

विवेक से हीन श्रद्धा राजसिक और तामसिक परिधि में घूमती रहती है, सात्विक अन्तःकरण को यह छू नहीं पाती है। अतः आवश्यक है कि सात्विक श्रद्धा को स्थायी रखने के लिये ज्ञान और विवेक की भूमिका को भी साधक को कभी छोड़ना नहीं चाहिए। यह भी भूलना नहीं चाहिए कि सात्विक मन में ही सात्विक श्रद्धा उदय होती है, और सात्विक मन का संवर्द्धन होता है सात्विक आहार से। अतः सात्विक आहार का व्रत साधकों को लेना भी जरूरी हो जाता है। मन सात्विक रहने पर विवेक सम्मत सात्विक श्रद्धा उसकी चिरसंगिनी बनी रहकर माता के समान सदा सर्वत्र उसकी रक्षा करती रहेगी। —x—

वर्ण का और दक्षिणी भाग का आकाश नील-कमल के समान श्याम-वर्ण का है। सुमेरु पर्वत के ऊपर उसके दक्षिण भाग में जम्बू वृक्ष है। इससे इस द्वीप का नाम जम्बू द्वीप पड़ा।

भूलोक—

सुमेरु पर्वत के चारों ओर सूर्य भ्रमण करता है। इससे यह दिन और रात से संयुक्त रहता है। सुमेरु की उत्तरी दिशा में तीन पर्वत विद्यमान हैं—नील, श्वेत और शृंगवान्। इनका विस्तार दो हजार वर्ग योजन है। इन पर्वतों के मध्य के अवकाश भाग में रमणीय, हिरण्मय, उत्तर कुरु नामक तीन खण्ड हैं—ये नौ-नौ हजार वर्ग योजन विस्तार वाले हैं। दक्षिण भाग में तीन पर्वत हैं—निषध, हेमकूट, हिमशैल। उनका विस्तार दो हजार वर्ग योजन है। इनके बीच के निम्न भाग में नौ हजार वर्ग योजन विस्तार वाले तीन खण्ड वर्तमान हैं—हरि वर्ष, किं पुरुष और भारत। सुमेरु की पूर्वी दिशा में इसी से सटा हुआ माल्यवान् पर्वत है। माल्यवान् से लेकर पूर्व की ओर समुद्र पर्यन्त भद्राश्व नामक प्रदेश है। सुमेरु के पश्चिम में केतुमाल और गंध मादन देश है। केतुमाल तथा भद्राश्व के बीच की भूमि को इलावृत कहा गया है।

इस प्रकार सुमेरु पर्वत का विस्तार पचास हजार वर्ग योजन है। सुमेरु के चारों ओर पचास हजार वर्ग योजन वाला देश है। यह सम्पूर्ण क्षेत्र जम्बू द्वीप कहलाता है। इसका कुल विस्तार सौ हजार वर्ग योजन है। यह जम्बू द्वीप अपने से दुगने परिमाण वाले वलयाकार खारे समुद्र से घिरा हुआ है। इसके आगे छः द्वीप क्रमशः इसप्रकार हैं—

प्लक्ष द्वीप—

यह जम्बू द्वीप से दुगने परिमाण वाला है और अपने ही समान परिमाण वाले वलयाकार इक्षु रस के समुद्र से घिरा हुआ है। जम्बू द्वीप में जितने विस्तार वाला इस द्वीप में सुवर्णमय प्लक्ष (पाकड़) का वृक्ष है। यहाँ सात जिह्वाओं वाले अग्निदेव निवास करते हैं। इस द्वीप के अधिपति प्रियव्रत पुत्र महाराज इध्मजिह्व थे। उन्होंने इसको सात भागों में विभक्त किया और उन्हें उन खण्डों के समान ही नाम वाले अपने पुत्रों को सौंप दिया। स्वयं ईश्वर के चरणों में लीन हो गये। इन के नाम हैं—शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय। यहाँ पर सात मर्यादापर्वत हैं—मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल। इसी प्रकार सात महानदियाँ हैं—अरुणा, नृम्णा, आंगिरसी, सावित्री, सुप्रभाता ऋतम्भरा और सत्यंभरा। यहाँ पर हंस, पतंग ऊर्ध्वायन और सत्यांग नामक चार वर्णों का निवास है। इन नदियों में स्नान कर के रजो-

गुण और तमोगुण को क्षीण करते रहते हैं। इन की आयु एक हजार वर्ष की मानी जाती है। वे देवताओं की भाँति परिश्रान्त नहीं होते। शरीर से पसीना नहीं निकलता और श्रेष्ठ सुन्दर पुत्रों को उत्पन्न करते हैं।

शाल्मलीद्वीप —

प्लक्ष द्वीप के आगे उस से दुगने विस्तार वाला शाल्मली द्वीप है, जो उतने ही विस्तार वाले मदिरा के सागर से आवृत है। इस द्वीप में प्लक्ष द्वीप के पाकड़ के वृक्ष के बराबर शाल्मली (सेमर) का वृक्ष है। यह वृक्ष पक्षिराज भगवान गरुड़ का निवास स्थान है। इसके अधिपति प्रियव्रत पुत्र महाराज यज्ञबाहु माने जाते हैं। उन्होंने इसके सात विभाग किये — सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देव वर्ष, पारिभद्र, आप्यायन और अविज्ञात। उन्होंने उन द्वीपों को इन्हें नामों को धारण करने वाले अपने पुत्रों को सौंप दिया। इस द्वीप में सात प्रमुख पर्वत हैं — स्वरस, शतशृंग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष और सहस्र श्रुति। इसी प्रकार सात नदियाँ हैं — अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नन्दा और राका। इन खण्डों में रहने वाले श्रुतधर, वीर्यधर, वसुन्धर और इषन्धर नामक चार वर्ण वेदमय आत्मस्वरूप भगवान चन्द्रमा की उपासना करते हैं।

कुश द्वीप —

शाल्मली द्वीप से दुगने परिमाण वाला कुश द्वीप उसके आगे स्थित है। यह अपने ही समान विस्तार वाले घृत के समुद्र से घिरा है। इस द्वीप में परमेश्वर रचित कुशों का झाड़ है। इसी आधार पर इसका नाम कुश द्वीप पड़ा। यह दूसरे अग्निदेव के समान है और अपनी कोमल शिखाओं की कान्ति से समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता रहता है। इस द्वीप के अधिपति प्रियव्रत पुत्र महाराज हिरण्यरेता थे। उन्होंने इसके सात विभाग करके अपने सात पुत्रों को प्रदान किया। उनके नाम हैं — वसु, वसुदान, दृढरुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत, विविक्त और वामदेव। इन्हें पुत्रों को सौंप कर वे तप के लिए चले गये। इस द्वीप में सात पर्वत और सात नदियाँ हैं। पर्वतों के नाम हैं — चक्र, चतुःशृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा और द्रविण। नदियाँ इस प्रकार हैं — रसकुल्या, मधुकुल्या, मित्रविन्दा, श्रुतविन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता और मन्त्रमाला। कुशद्वीप वासी इन नदियों में स्नान कर कुशल, कोविद, अभियुक्त और कुलक वर्ष के पुरुष अग्नि स्वरूप भगवान हरि का यज्ञादि कर्मकौशल के द्वारा पूजन करते हैं।

क्रौञ्च द्वीप —

कुश द्वीप से आगे उससे दुगने परिमाण वाला क्रौञ्च द्वीप स्थित है। यह अपने ही समान विस्तार वाले दुग्ध समुद्र से आवृत

है। इस द्वीप में क्रौञ्च नामक एक विशाल पर्वत है। इसी के आधार पर इसका नामकरण किया गया। इस द्वीप के अधिपति प्रियव्रत पुत्र महाराज घृतपृष्ठ थे। वे बड़े ज्ञानी थे। उन्होंने इसे सात खण्डों में विभक्त कर उन्हीं के नाम वाले अपने पुत्रों को सौंप दिया। स्वयं भगवान श्री हरि के चरणों में चले गये। वे उपद्वीप हैं—आम, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण और वनस्पति। यहाँ पर सात पर्वत और सात नदियाँ हैं। पर्वतों के नाम हैं—शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र। नदियों के नाम हैं—अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, वृत्ति रूपवती, पवित्रवती और शुक्ला। यहाँ पर चार वर्ण वाले प्राणी निवास करते हैं—पुरुष, ऋषभ, द्रविण और देवक। ये उक्त पवित्र नदियों में स्नान करते हैं और उपासना करते हैं।

शाक द्वीप—

क्रौञ्चद्वीप के आगे बत्तीस लाख योजन विस्तार वाला शाकद्वीप है। जो अपने ही परिमाण वाले मट्ठे के समुद्र से घिरा है। इस द्वीप में शाक नामक एक अत्यन्त विशाल वृक्ष है। इसीलिए इसका नाम शाक द्वीप पड़ा। उस वृक्ष की मनोहर सुगन्ध से सारा द्वीप सुगन्धित रहता है। इसके अधिपति मेधातिथि है, जो राजा प्रियव्रत के पुत्र हैं। उन्होंने अपने द्वीप को सात वर्षों में विभक्त किया और उन-उन नामों वाले अपने पुत्रों को अर्पित किया। विभक्त उपद्वीपों के नाम हैं—पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप और विश्वधार। इन उपद्वीपों में भी सात पर्वतों और सात नदियों की परिकल्पना की गयी है। सात पर्वत हैं—ईशान, उरुशृंग, बलभद्र, शतकेसर, सहस्रस्रोत, देवपाल और महानस। नदियाँ हैं—अनघा, आयुर्दा, उभयस्पृष्टि, अपराजिता, पञ्चपदी, सहस्रश्रुति और निजधृति। इस द्वीप में निवास करने वाले पुरुष हैं—ऋत व्रत, सत्य व्रत, दान व्रत और अनु व्रत। ये अपने रजोगुण और तमोगुण को प्राणायाम द्वारा क्षीण कर समाधिस्थ हो वायुरूप श्री हरि की आराधना करते हैं।

पुष्कर द्वीप—

शाक द्वीप से आगे उससे दुगने विस्तार वाला पुष्कर द्वीप है। यह अपने ही समान विस्तार वाले शुद्ध जल के समुद्र से आवृत है। इस द्वीप में अग्निशिखा के समान दैदीप्यमान् लाखों स्वर्णमयी पंखुड़ियों वाला एक विशाल आकार वाला कमल है, जो ब्रह्मा जी का आसन माना जाता है। इस द्वीप के मध्य मानसोत्तर नामक एक ही पर्वत है। यह दस हजार योजन लम्बा और उतना ही ऊँचा है।

—कल्याण

सद्गुरू की प्राप्ति : ज्ञान का अभ्युदय

– श्री जगदीश नारायण उपाध्याय

हमारे पहले लेख 'अन्तरात्मा का सरलतम साधन आत्मसमर्पण' में उपयुक्त प्रकार ज्ञान की प्रणाली को देखकर शायद कुछ लोग महसूस कर रहे होंगे कि यह कहीं बाह्य ज्ञान की प्रणाली तो नहीं है। न ही, कहीं बाहर की 'पातञ्जल योगदर्शन' में लिखित व्यास मुनि द्वारा कथित सहज ज्ञान से युक्त विशुद्ध राजयोग की प्रणाली है।

आत्मसमर्पण करने के पहले साधकों के यही विचार जात या विचारपूर्वक ज्ञान की क्रियायें थी- सीमित प्रज्ञ अभ्यास द्वारा या अन्तःप्रेरणा से, मन की अवस्था के बदल जाने पर सहज ज्ञान या सहज प्रेरणा में परिणत होकर स्वाभाविक हो पड़ी है। जिसे अब हम इस समय विचार के निम्न आधार पर होने पर प्रत्यक्ष सहज ज्ञान की प्रणाली में देख रहे हैं। योगियों की भाषा में सहज ज्ञान या सहज प्रेरणा विचार की निम्न आधारभूत प्रज्ञा संकुचित अवस्था है।

अपने लेख में पहले ही हमने लिख दिया है कि हमारे समस्त ज्ञान की प्रणाली राजयोग पर आधारित है। एकाग्रता शक्ति को प्राप्त करना राजयोग का परम लक्ष्य है। हम मानव के नाते देखते हैं कि हमारा समस्त ज्ञान, जिसका आधार विचार जात ज्ञान है 'अहं' बोध के अधीन है। यह 'अहंयुक्त' विचार जात ज्ञान, पूर्वजन्मों का फल है। आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं यह केवल उसके शरीर का धर्म है, पर योगीगण कहते हैं कि यह मन की अनुभूति है जो पूर्व जन्म के अनुसार शरीर के भीतर से आ रही है। अतः यह पूर्णरूपेण युक्तिसंगत है कि जिसे हम सहज ज्ञान या सहज प्रेरणा कहते हैं, वह हमारी पूर्व प्रत्यक्ष अनुभूति का फल है, वह पूर्व अनुभूति ही बार बार अभ्यस्त होकर सहज प्रेरणा के रूप में परिणत हो जाती है, सहज प्रेरणा फिर से विचार जनित ज्ञान में परिणत हो जाती है। सारे संसार में यही क्रिया चल रही है। इस तरह भी भारत में पुनर्जन्मवाद की एक प्रधान युक्ति स्थापित हुई है।

इसी पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार जब हम पुनः चित्त के अन्दर अभ्यास आरम्भ करते हैं पूर्वानुभूत बहुत से राग के संस्कार कालान्तर से जीवन के प्रति ममता, क्रोध और मृत्यु के प्रति भय, सुख-दुःख, आदि आयु के भाग कर्मों के फल के अनुसार, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में उन्मेष के रूप में आने लगते हैं। मालूम पड़ता है कि ये सारे संस्कार

सूक्ष्म और सूक्ष्म रूप होकर मन के भीतर सोये पड़े हैं, अवचेतन अगाध या चित्त में ही वास करते हैं। पातञ्जल योगदर्शन में भी 'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥२-९॥ तथा 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' ॥२-१३॥ सूत्रों द्वारा इस भाव को व्यक्त किया गया है।

योगसाधन की यह प्रणाली सबसे प्राचीन मार्ग की प्रणाली है अतः इन सारे व्यक्तिगत प्रयासों के बावजूद इसके लिए साधक में जिस गुण की आवश्यकता है वह है धैर्य और लगन। अतः इन्हीं गुणों, धैर्य और लगन के साथ यदि साधक पहले की तरह शिव की भाँति अपने आराध्य 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के प्रति श्रद्धा, विश्वास, समर्पण का भाव रखते हुए मुक्तात्म-समर्पण की प्रणाली पर आधारित श्वास-प्रश्वास के खींचने और छोड़ने करने की क्रिया के साथ मंत्र का जाप या उपासना करता है, सबके साथ मैत्री, दीन-दुखियों के प्रति दया, औरों को सत्कर्म करते देख सुखी होना, दुष्टों के प्रति उपेक्षा, नीति का आचरण करता है, साथ ही श्रद्धा, विश्वास संयम, नियम, विवेक, ज्ञान एकाग्रता, वीर्य की रक्षा आदि व्रत का पालन करता है तो इस प्रकार की क्रिया के आचरण और पालन करने के कुछ दिनों बाद अनुभव में आनेवाली स्थूल रूप से प्रकाशित चित्तवृत्तियों का दमन हो जाता है बाद में आगे चलकर जो सूक्ष्म संस्कार या वासनायें बच जाती हैं उनको भी जब वह संयम के अभ्यास से पहचानकर समाधि भूमि में निरुद्ध करके ज्ञान के अग्निशिखा रूपी कारण में नष्ट कर देता है तो नष्ट हो जाती है। संयम, साधना, सत्य वस्तु के विवेक से जब साधक चित्तवृत्तियों का दमन तथा सूक्ष्म संस्कारों का नाश कर देता है तो पुनः चित्त शांत हो जाता है। प्रकृति अपने [illegible] स्वभाव के अनुसार कार्य करने लगती है। मन के अन्दर बाह्य विचारों का आना बन्द हो जाता है, तथा वह फिर अपनी स्वाभाविक अवस्था सहज शान्त में रहने लगता है, बावजूद वे साधक जो देवता पद, किसी तरह का शासन का कर्ता होने या उसी प्रकार अन्य वस्तु की कामना भी नहीं करते केवल आत्मिक आनन्द जीवन की मुक्ति तथा मानव जाति की मुक्ति के अभिलाषी हैं उनका पुनः समाधि भूमि में प्रवेश आरम्भ हो जाता है। मन के एकाग्र होने तथा समाधि भाव मिलने पर साधक का उन भौतिक सिद्धांतों और आदर्शों-जिनके लिए वह साधना कर रहा है उसके प्रति उसका पुनः सद्भाव के साथ पूर्ण आस्था और विश्वास बन जाता है, तथा वे उसके लिए समर्पित हो जाता है। आदर्शों और सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाने पर साधक पुनः अपने अभ्यासक्रम में पूरी लगन के साथ जुट जाता है और अपने मार्ग में आगे बढ़ने लगता है। पातञ्जल योगदर्शन

दर्शन में —

'प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य' ।
॥१-३४॥

मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणांसुख-दुःख पुण्या पुण्य विषयाणांभावनातश्चित्त प्रसादनम्
॥१-३३॥

श्रद्धावीर्य स्मृतिसमाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम् ॥२०-१॥

सूत्रों द्वारा इस आशय को व्यक्त किया गया है।

आत्मसमर्पण ही इस प्रकार की साधना का मूल आधार है। क्योंकि इन समस्त चेष्टाओं और क्रियाओं के बावजूद साधक के लिए सबसे बढ़कर आवश्यकता होती है, आत्म बोध कराने वाले मार्गदर्शक गुरु की। जब साधक अपनी समग्र सांसारिक इच्छाओं का नाश करके यौगिक सिद्धान्तों और आदर्शों के साथ अपने आप को हृदयस्थ के देवता ईश्वर या सद्गुरु के सामने समर्पित कर देता है, वही पुराण चेतन पुरुष के रूप में अन्तःकरण में व्याप्त 'सद्गुरु' या ईश्वर के प्यार और लालना के साथ कल्याणमयी माता की तरह उसके हित की रक्षा करते हैं, निर्देश दिया करते हैं तथा हतोत्साहित होने पर आत्मतोष कराया करते हैं। इस प्रकार जब साधक कल्याणमयी माता जैसी संरक्षिका की तरह विश्वचेतना में व्याप्त 'सद्गुरु' या ईश्वर सत्ता का संरक्षण पाने लगता है तो वह उसकी अन्तः प्रेरणा से प्यार और लालना के बोध वाले मन से अध्यात्म के प्रति अनुराग तथा भौतिकता के प्रति विराग रखता हुआ मार्ग में निरन्तर बढ़ता चला जाता है। और अन्त में आगे चलकर उसका जीवन सफल हो जाता है। लेखक ने इस वस्तु का स्वयं अनुभव किया है। गीता में भी यह बात वर्णित है बारम्बार व्यास मुनि ने भी इस आशय की पुष्टि की है।

अब तक लेख में मैंने योग-साधना के सारे कार्य-कलापों में ज्ञान की दो अवस्थाओं का उल्लेख किया है। पहला ज्ञान जिसमें 'अहं' मिला रहता है, जिन कार्यों को करते समय मैं कर रहा हूँ, यह ज्ञान सदा विद्यमान रहता है। तथा जिसके सारे कार्य सूक्ष्म भूमि से चालित होते हैं, यह ज्ञान पुरुष ज्ञान जिसे विचार वाला ज्ञान कहते हैं। दूसरा जिसमें 'अहं' का लगाव नहीं रहता, जो मन ज्ञान से हीन होता है, जिसके सारे कार्य ज्ञान की निम्न भूमि से चालित होते हैं यह अज्ञान भूमि वाला ज्ञान जिसे हम सहज ज्ञान कहते हैं। ये दोनों ज्ञान एक ही मन की दो अवस्थायें हैं। क्योंकि मन एक होता है। उस एक मन की एक अवस्था दूसरी अवस्थाओं में परिवर्तित होती जाती है। कोई अवस्था दूसरी अवस्थाओं की विरोधी नहीं है।

❊ स्मृति उपस्थान ❊

— श्री आचार्य चन्द्रहास शर्मा

चित्त की क्लिष्ट अक्लिष्ट उभयात्मक वृत्तियों के सर्वथा शान्त हो जाने पर योग की प्राप्ति होती है और सभी प्रकृति के गुणों के परिणामी तथा कर्तापने के अहंकार से मुक्त होकर पुरुष निज आत्मस्वरूप स्वरूप में अविचल भाव से स्थित होता है। जिस प्रकार शान्त समुद्र में वायु के वेग से तरंगें पैदा होकर समुद्र को चंचल बना देती हैं उसी प्रकार कर्मों की पूर्व-पूर्व जन्मों की वासनाएँ चित्त में शुभ परिणाम वाली वृत्तियों को जन्म देती हैं। योग-दर्शन में महर्षि पतंजलि ने क्लिष्ट अक्लिष्ट भेद से चित्त की दस वृत्तियाँ मानी हैं जो चित्त में संस्कारों का तानाबाना बुनने में कारणभूत सिद्ध होती हैं। वृत्तियाँ निम्नलिखित हैं:—

'प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः। यो० सू० १/६

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृतियें पाँच वृत्तियाँ हैं। जब ये संसार में बाँधती हैं तो क्लिष्ट कहलाती हैं और जब उससे मुक्त करने में सहायक बनती हैं तो अक्लिष्ट कहलाती हैं। हमारे लौकिक कार्य स्मृति के बल ही होते हैं। शब्द एवं अर्थ के परस्पर सम्बन्ध का बोध स्मृति के आधार पर ही होता है। घट शब्द कहते ही स्फोट ध्वनि के द्वारा बुद्धि में संस्कार रूप से विद्यमान घट द्रव्य की प्रतीति बुद्धि व्यापार (स्मृति) से ही सम्भव हो पाती है। स्मृति बुद्धि का ही एक अंग है जिसमें अनुभूति होने के कारण अस्मिता का अहंकार जन्य तथा प्रतीति होने के कारण धृति का प्राणतत्त्व अभिमिश्रित होता है। योगदर्शन में इसका लक्षण किया गया है:—

अनुभूत विषया संप्रमोषः स्मृतिः

१।१/११

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान के अनुभव का यथावत् बिना नमक मिर्च लगाये संग्रह स्मृति कहलाती है। पुरुष को जन्म जन्मान्तर में मृत्यु और जन्म का दुःख भोगना पड़ रहा है अतः भूतकालिक अनुभवों के आधार पर मृत्यु से भय स्मृति के आधार पर प्रत्येक जीव को होता है। जैसे हमारी आँख अपने आपको नहीं देख सकती इसी प्रकार अपने शुद्धस्वरूप को स्मृति के द्वारा नहीं जाना जा सकता। उसके लिए स्मृति को छोड़कर निर्बीजभाव में आना पड़ेगा।

मन ज्ञान की दो अवस्थाओं का ज्ञान कर लेने से पूरे ज्ञान भूमि का बोध नहीं होता। ज्ञान की पूर्णता तो तब होती है जब इन दोनों अवस्थाओं से उच्च तीसरी अवस्था ज्ञानातीत ज्ञान को साधक न प्राप्त कर ले। ज्ञानातीत ज्ञान की अवस्था वह अवस्था है जहां मन इन दोनों से ऊँची भूमि पर विचरण कर सकता है मन ज्ञान की भी अतीत या परे अवस्था में जा सकता है। जिस प्रकार अज्ञान भूमि से जो कार्य होता है, वह ज्ञान की निम्न भूमि का कार्य है' वैसे ही ज्ञान की उच्च भूमि या की ज्ञानातीत भूमि से भी कार्य होता है। उस में किसी प्रकार अहं भाव नहीं रहता। यह अहं भाव केवल बीच की अवस्था में रहता है। जब मन इस रेखा से ऊपर या नीचे विचरण करता है तब किसी प्रकार की 'अहं' भाव नहीं रहता, फिर भी मन की क्रिया चलती रहती है। जब मन इस रेखा के ऊपर अर्थात् ज्ञानभूमि के अतीत प्रदेश में गमन करता है, तब उसे समाधि पूर्ण चेतना भूमि या ज्ञानातीत भूमि कहते हैं। यह समाधि अवस्था ज्ञान के परे अवस्थित है।

ज्ञानातीत की प्रणालियों को यह बात पूर्वाचार्यों के ज्ञान की बात थी जो उन्होंने शुद्ध विचार के अतीत प्रदेश के अभ्यास द्वारा अपने अन्दर प्राप्त किया था।

अपने लेख में अब हम ठीक पूर्ववर्ती नियमों, वैज्ञानिक उपायों तथा राज के साधन से किस प्रकार ज्ञान की निम्न भूमि में स्थित अचेतन अवस्था मनुष्य ज्ञान की साधक बाह्य कम्पन, स्नायुविकलति, मानसिक प्रतिक्रिया द्वारा मुक्त-प्रयोग के प्रणाली के प्रयोग से शब्द, अर्थ, ज्ञान के रूप में अनुभव करके अन्तःकरण में प्रतिष्ठित करेंगे, तथा फिर उस अनुभव ज्ञान को कैसे आकाशीय कम्पन द्वारा 'ध्वनि' या 'महतत्व' के माध्यम से विश्वचेतना में व्याप्त 'सद्गुरु' या ईश्वरसत्ता' की शक्ति या ज्ञान में स्थानान्तरित करके साधक अपने आपको ज्ञानातीत ज्ञान की अवस्था या ज्ञान में समझेंगे। इन सारी बातों तथा विधियों को हम ध्यानाभ्यास के साधक द्वारा विस्तारपूर्वक आगे वर्णन करेंगे।

—x— —x—

६. गीता पढ़ने से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह गीता का बार-बार उच्चारण करने से ही स्पष्ट हो जाता है। जैसे 'गी ताग्री ताग्री...' (त्यागी त्यागी त्यागी), अर्थात् हे जीव, सर्वस्व का त्याग कर ईश्वर के चरणकमलों का आश्रय ले।

२. आत्मज्ञान होने पर मनुष्य किस प्रकार रहता है, जानते हो? —जैसे कांच के घर में बैठने से भीतर और बाहर दोनों ओर दिखाई देता है। ज्ञानी मनुष्य को अन्दर और सर्वत्र सर्वव्यापी चैतन्य बोध होता रहता है।

—x— —x—

जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्था में एकात्म भाव से स्थित चैतन्य का बोध स्मृति के द्वारा ही होता है। जागते हुए एक व्यक्ति सोता है और स्वप्न में अपने को कुछ देखता है। वही व्यक्ति सुषुप्ति में अपना अभाव देखता है तथा तुरीयावस्था में अपने अनुभव को भी भूलता हो जाती है। इन सभी भिन्न-भिन्न स्थितियों में एक अखण्ड चेतना की स्मृति के द्वारा अपने होने का बोध होता है। चित्त की वृत्तियों से जो जो अनुभव होते हैं वे सभी विद्यमान नहीं रहते केवल उनका संस्कार बुद्धि में शेष रहता है। जब कोई उद्दीपक पदार्थ चित्त के सम्पर्क में आता है, प्रसुप्त संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है चित्त उस क्षण उस संस्कारजन्य अनुभव के आकार का हो जाता है। इसे ही शास्त्रीय भाषा में स्मृति कहा गया है। स्मृति सदा ज्ञात विषय की होती है। हमें स्वप्न में जाग्रत अवस्था के पदार्थों का पुनः अनुभव होता है। भगवान व्यासदेव जी ने योग सूत्रों के अपने भाष्य में संस्कार और स्मृति को एक रूप में माना है। देखिये—

'स्मृति संस्कारयो रेकरूपत्वात्। यथानुभवास्तथा संस्काराः। ते च कर्मवासनानुरूपाः। यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति। जाति देशकाल व्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः। स्मृतेश्च पुनः संस्काराः। एवमेते स्मृति संस्काराः कर्माशय वृत्तिलाभ वशाद्व्यज्यन्ते।

४/८

अर्थात भिन्न-भिन्न जातियों में, समयों में तथा स्थानों में जन्म-जन्मान्तरों में व्यक्तियों को जो अनुभव हो चुके हैं वे उद्दीपक के उपस्थित होते ही पुनः स्मृतिरूप में प्रकट हो जाते हैं, जिससे संस्कार चक्र घूमने लगता है। जैसे अनुभव स्मृति पथ पर आते-जाते हैं, वैसे ही संस्कार प्रकट होने लगते हैं और संस्कारों से स्मृति तथा पुनः स्मृति से संस्कार बनने लगते हैं। इस प्रकार कर्माशय के बनाने में स्मृति कारण बनती है। इसीलिए क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए कर्माशय को समाप्त करना है और कर्माशय के लिए संस्कार और वासना तथा तज्जन्य वृत्तियों को निर्मूल करना आवश्यक है।

व्यवहार में भी देखा जाता है कि यदि किसी को कभी सर्प ने काटा है तो उस स्थान का स्मरण आने पर व्यक्ति को पूर्ववत् विष का प्रभाव तक होने लगता है। पूर्व जन्मों में यदि कोई पशु योनि में रहा है तो मनुष्य शरीर मिलने पर सुन्दर आकृति में ही कभी-कभी व्यक्ति में पशु तुल्य प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इन प्रवृत्तियों का कारण पूर्वजन्म की स्मृति का उपस्थित होना है जिसके कारण उसमें तदनुरूप चेष्टा होने लगती है। क्योंकि

की वाणी से उसके पूर्वजन्म को आसानी से जाना जा सकता है। मधुर तथा प्रिय वाणी बोलने वाला व्यक्ति देवलोक का प्राणी होता है तथा कर्कश वाणी बोलने वाला पूर्व जन्म की निकृष्ट योनियों के संस्कारों की स्मृति से जुड़ा होता है। हमारे जीवन के राग द्वेषों का कारण भी स्मृति है। कभी-कभी हम अकारण ही प्रिय चाहने वाले व्यक्ति से द्वेष करने लगते हैं तथा कभी-कभी हमें दुराचारी से भी राग हो जाता है। इसके मूल में उसके साथ जुड़े हुए हमारे संस्कार हैं जो स्मृति के द्वारा उदित होकर हमारे व्यवहार को संचालित करते हैं। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार स्मृति ही Drives & Motives की प्रेरक है।

प्रसिद्ध मनोविज्ञानिक एबिंगहॉस तथा क्रूगर (Krueger) ने स्मृति के सम्बन्ध में अनेक परीक्षण करके यह प्रतिपादित किया कि जिस वस्तु का अनुभव बार-बार अधिक होता है तथा उसका साहचर्य सम्बन्ध (association) किसी अन्य देश, काल या वस्तु से स्थापित कर दिया जाता है तो वह हमारी स्थायी स्मृति का विषय बन जाता है। उसके प्रत्यभिज्ञान में हमें देर नहीं लगती। यदि अध्ययन करते समय मानसिक तत्परता, ध्यान, अनुभूति, सामग्री की सही मात्रा तथा निद्रा का संयोग हो तो स्मृति अधिक दिनों तक टिकाऊ होती है। फ्रायड के शिष्य जुंग तथा एडलर ने अनेक प्रयोग करके यह सिद्ध किया कि जागृत मस्तिष्क की अपेक्षा अचेतन तथा अर्द्धचेतन मस्तिष्क की अनुभूति अधिक तीव्र होती है। उस अवस्था में भी सीखा जाता है। इधर पश्चिम में वैज्ञानिक दृष्टि से पिछड़े छात्रों को स्मृति का उपस्थापन करने की दिशा में काफी सफलता मिली है। इन प्रयोगों का आधार योग-सूत्र में योगदर्शन के वृत्ति परिगणन सूत्र में ही विद्यमान है जिसमें स्मृति को निद्रा के बाद माना है। किसी बात को प्रमाणों के द्वारा उसके भाव अभाव, अनुलोम विलोम रूप में विवेचित कर मस्तिष्क में डाल दी जाय फिर उसे पूर्ण विश्राम की अवस्था में रहने दिया जाय तो वह बात स्थायी रूप से सोख ली जाती है। शान्त अवस्था में मस्तिष्क में उस विषय को चुराने वाला कोई और मन नहीं होता अतः वह ज्ञान ज्यों के त्यों उसके अचेतन मन में आत्मसात् हो जाता है। जिन्हें याद नहीं होता उन छात्रों को गाढ़ निद्रा में सुलाकर उनके कान के पास धीरे-धीरे सिखाने वाले पाठ को पढ़ा जाय तो जागृत अवस्था में थोड़े से प्रयत्न से ही उन्हें वह पाठ याद हो जायगा। उन्हें ऐसा लगेगा कि इसे पहले कभी पढ़ा है। अचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली तथा व्यापक है। निद्रा की अवस्था में चेतन मन

तो वो नाता है अचिन्तन मन का एक आत्म साक्षात्कार हो जाता है। उस समय उसे जो भी अनुभव कराया जाय वह स्थायी स्मृति का रूप ले लेता है। इस सिद्धान्त के आधार पर आदेश (Suggestion) द्वारा आदतों के सुधार तथा बीमारियों को दूर करने में बहुत सफलता मिली है।

स्मृति सुधारने के साधन

चरक संहिता में स्मृति के द्वारा दुःखों से छूटने के उपाय का उल्लेख करते हुए कहा गया है:—

स्मृतिः सत्सेवन धार्यादि-
धृत्यन्तैरुप जायते।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां
स्मरन् दुःखात्प्रमुच्यते॥
च० सं० शारीर स्थान १/१४७

धैर्य, धारणा तथा सत् व्यवहार से स्मृति पुष्ट होती है। आत्मा नित्य स्वरूप सत्य ही है अतः उसके का स्मरण करने से परमात्मा के आनन्दादि गुण बुद्धि में आभासित होने लगते हैं जिससे दुःखों का अन्त हो जाता है।

आचार्य चरक ने स्मृति उपस्थित करने के निम्नलिखित साधनों का वर्णन किया है:—

सतामुपासनं सम्यग-
सतां परिवर्जनम्।
व्रतचर्योपवासौ च
नियमाश्च पृथग्विधाः॥
धारणं धर्मशास्त्राणां-
विज्ञानं विजने रतिः।
विषयेष्वरति मोक्षे-
व्यवसायः परा धृतिः॥
कर्मणामसमारम्भः कृतानां-
च परिक्षयः॥
नैष्क्राम्यमनहंकारः संयोगे-
भय दर्शनम्॥
मनोबुद्धि समाधानमर्थ-
तत्त्व परीक्षणम्॥
तत्त्वस्मृते रुपस्थानात्-
सर्वमेतत् प्रवर्तते॥
वही ४६-४९

अर्थात् स्मृति ठीक रखने के लिए निम्नलिखित कार्य करने चाहिए:—

महापुरुषों की सेवा तथा उपासना, खोटे लोगों का असंग, ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा उपवास, शौचादि नियमों का पालन। धर्मशास्त्रों का अनुसरण, अनुभव का आदर, एकान्त सेवन विषयों से द्वेष, मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति, उच्च कोटि का धैर्य, कर्मों में अनासक्ति भाव, पुण्यकर्मों के कर्मक्षय करने का उद्यम, करते हुए निष्काम कर्म को अपनाना तथा अहंकार रहित होना, मन तथा बुद्धि को आत्मा के

साथ संयुक्त करने वाली योग साधना में प्रवृत्ति, निर्भयता, आत्म तत्त्व का पुनः पुनः विचार करना आदि उपायों से स्मृति शुद्ध हो जाती है तथा स्मृति से समाधिलाभ भी हो सकता है।

भगवान पतंजलिदेव ने अन्य उपायों द्वारा कैवल्य प्राप्त करने वाले योगियों का उल्लेख करते हुए समाधि के लिए स्मृति को भी उपयोगी माना है। यथा—

'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा-पूर्वक इतरेषाम् ॥ १/२०

श्रद्धा, वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा के उपायों द्वारा जो योगी कैवल्यलाभ करते हैं उन्हें उपाय प्रत्यय योगी कहा जाता है। इस सूत्र में गिनाये गये सभी कारण एक-एक कर स्वतन्त्रता रूप से समाधि का कारण बनते हैं साथ ही एक उपाय दूसरे का कारण बनकर परम्परया भी उनकी परिणति समाधि प्रज्ञा (ऋतम्भरा) में हो जाती है। ऋषियों की सूत्र शैली बड़ी अद्भुत होती है। थोड़े से शब्दों में वे पूरे सिद्धान्त का समावेश कर देते हैं। इसे इस क्रम से ही हृदयङ्गम किया जा सकता है, श्रद्धा के द्वारा वीर्य (उत्साह) पैदा होता है। उत्साह से स्मृति तथा स्मृति से समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है जिसमें योगी रसगुल्ले की तरह अन्दर बाहर, सब ओर रस से सराबोर हो जाता है। सर्वत्र आत्म चैतन्य तत्त्व के दर्शन होते हैं। उसके सिवा उससे भिन्न कुछ होता नहीं।

स्मृति की परिपक्वता का फल व्यासदेव जी के शब्दों में सुनिए—

स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहित चित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते येन यथावद् वस्तु जानाति। तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्याद संप्रज्ञातः समाधिर्भवति।

स्मृति उपस्थित होने पर चित्त की भगदड़ बन्द हो जाती है। चित्त जब प्रशान्त हो जाता है तो उसमें प्रज्ञा विवेक पैदा हो जाता है जिससे यथार्थ रूप से वस्तु को योगी जानता है तथा सदसद् विवेक के द्वारा सद्वस्तु (आत्मा) का अभ्यास तथा असद् (अनात्म) से वैराग्य होते होते असम्प्रज्ञात नामक समाधि तक पहुँच जाता है जहाँ नाम रूप सम्बन्ध का भेद सर्वथा मिट जाता है तथा जड़ चेतन की गाँठ सदा के लिए खुल जाती है।

स्मृति की पूर्णतः शुद्धि होने पर अपना पन खत्म सा हो जाता है। व्यासदेव के शब्दों में जिस तरह पानी की रोशनी काँच के शीशे से बाहर निकल जाती है, काँच का शीशा आवरण मात्र रहता है। बुद्धि से जब आसक्तवासना, पूर्वाग्रह, हेयोपादान धर्म तथा शब्दार्थ प्रत्यभिज्ञान

समाप्त हो जाते हैं केवल वस्तु के स्वरूप मात्र का बोध होता है तो उस स्थिति को निर्वितर्का समाधि कहते हैं।

स्वप्न तथा निद्रा के ज्ञान की स्मृति के द्वारा भी समाधि लाभ हो सकता है।

स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनं वा
१/३८

सूत्र में भगवान पतञ्जलि ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जैसे किसी को स्वप्न में देवदर्शन तथा वार्तालाप हुआ हो तो वह उसी का बार-बार स्मरण करता रहे तो उसका चित्त तदाकार होते-होते समाहित हो जायेगा। इसी प्रकार यदि नींद में आनन्द का अनुभव हुआ हो तो उसी आनन्द की बार-बार स्मृति करने से भी चित्त आनन्दमग्न होकर समाधि में प्रवेश कर जायगा।

छान्दोग्य उपनिषद में सनत्कुमार ने नारद जी को उपासना का उपदेश देते हुए आहार शुद्धि को परम आवश्यक माना है क्योंकि—

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः
सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्व ग्रन्थीनां
विप्रमोक्षः॥

यदि आहार सात्विक होगा तो बुद्धि शुद्ध होगी, बुद्धि शुद्ध होने से अन्तःकरण तथा स्मृति शुद्ध होगी। स्मृति शुद्ध होने पर जड़ चेतन का स्वरूप ठीक-ठीक स्पष्ट होगा जिस से जड़ चेतन तथा अविद्याऽस्मिता रागद्वेष आदि की गांठें खुल जायेंगी।

आहार का अभिप्राय अन्न से तो है ही, इन्द्रियों के विषयों से भी है। नेक कमाई का प्रसन्नचित्त सतोगुणी के हाथ का बनाया हुआ शुद्ध और पवित्र स्थान पर किया गया आयु, सत्व, बल तथा आरोग्य को बढ़ाने वाला रस, स्निग्ध एवं हृद्य भोजन शुद्ध आहार कहलाता है। भगवान की प्रसन्नता के लिए प्राणरक्षा मात्र के लिए भगवान का भोग लगाया हुआ हिंसादि कर्मों से वर्जित अन्न ही शुद्ध आहार है। अपने उदर का आधा भाग भोजन से एक चौथाई जल से तथा एक चौथाई वायु से पूरित करने का नियम है। जो लोग चाट पकौड़ी या अच्छा खानपान के शौकीन हैं वे कभी भी इन्द्रियजयी नहीं हो सकते। रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय का परस्पर सम्बन्ध है। जो जीभ का गुलाम है वह ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। स्मृति ठीक हो ही नहीं सकती। आहार का अर्थ सभी इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं। आंख से अच्छा देखें, कान से कल्याणकारी सुनें, हाथ से परोपकार तथा सेवा करें, मन से

इष्ट के गुणों का चिन्तन करें तभी वास्तविक अर्थों में आहार शुद्धि का पालन होगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर हमारे ऋषियों ने प्रार्थना की थी—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा-
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनू-
भिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

यजुर्वेद

अतः हमारा आहार ऐसा हो कि सत्त्वगुण का विकास होता रहे। योगेश्वर श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा उद्धव को उपदेश देते हुए कहते हैं—

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम्

भागवत् ११/१३/२

अर्थात् सतोगुण की वृद्धि के लिए सात्त्विक आहार का ही सेवन करना चाहिए। सतोगुण से ही धर्मों की वृद्धि होती है, तथा अन्तःकरण में ज्ञान का उदय होता है तथा स्मृति कायम रहती है। निम्नलिखित दस चीजों के सतोगुण होने से सतोगुण बढ़ता है—

आगमोऽपः प्रजा देशः
कालःकर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ
संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥

॥वही/४

शास्त्र, जल, आस-पड़ोस के लोग, स्थान, समय औचित्य साधन, जन्म परिवार ध्यान (इष्ट) मंत्र तथा संस्कार—ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो व्यक्ति में उत्तरोत्तर सतोगुण का विकास होकर स्मृति उपस्थान की स्थिति हो जाती है। इसी के आधार पर संत साधु शतावधानी सहस्रावधानी बन जाता है। एक बार में सौ बातों का स्मरणकर उत्तर दे सकते हैं।

इन्द्रियजय तथा जितकषाय होने के लिए आहार शुद्धि परमावश्यक है। आचार्य दत्तात्रेय के उपाख्यान में मछली से उन्होंने यही शिक्षा ग्रहण की कि अपनी जिह्वा को वश में करना चाहिए। देखो दोनों स्थान से जिह्वा कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय होने से दुगना लाभ या नुकसान करती है। मनस्वी पुरुष भोजन पर कन्ट्रोल करके अन्य इन्द्रियों पर तो शीघ्र विजय पा लेता है, परन्तु इससे रसना इन्द्रिय वश में नहीं होती। यह भोजन पेट भर देने से और बलवती बनती जाती है। मन में नाना प्रकार के स्वादिष्ट वस्तुओं का भोग करने लगता है। अतः सभी इन्द्रियों को वश में करने पर भी जब तक व्यक्ति जितेन्द्रिय

पौराणिक आख्यानों की—

साधना में महत्ता

श्री डा० विजयसिंह

आज तक हम समस्त पौराणिक कथाओं को गल्प-कथा अथवा बहुत हुआ तो नैतिक कथाओं की दृष्टि से ही पढ़ा और समझा है। जबकि तथ्य रूप से साधना के सशक्त आयामी गगन के बीच इन कथाओं का महत्व किसी आकाश-दीप अथवा सर्चलाइट की तरह अन्तरालों के बीहड़ जंगल से निकलने के लिए प्रकाश पथ की तरह है।

इसीलिए शायद सद्गुरु भगवान जहां योग-सिद्धान्तों को लोगों के चित्त में बैठाते हैं। वहां यदा-कदा कुछ महत्व पूर्ण परम उद्बोधक पौराणिक तथ्यों को भी बतलाया करते हैं। बहुत वर्षों पूर्व सुनी हुई कुछ कथायें स्मृति में अमिट रूप से जो स्थान पा चुकी हैं, इस लेख में उन्हीं का वर्णन हम करेंगे।

आज से लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व इसी पुण्यवती भारत-भूमि में योग ऐश्वर्य के अप्रतिम प्राकट्य के रूप में भगवान श्रीकृष्ण अवतरित हुए थे। जिनके मात्र दर्शनों से बहुत ही भाग्यवती पुरुषों एवं स्त्रियों में विराट विज्ञान स्फुरित हो उठा था। चाहे गोपिका अक्रूर, सुदामा, संत-नारदी, देवर्षि, वेदव्यास तथा गोपियों के साथ ही बंदियों ने भी अपने अन्तः में उस परम वैभव महापुरुष के विराट स्वरूप

(पिछले पृष्ठ का शेष)

मन संयमी तब तक रसनेन्द्रिय को अपने वश में नहीं कर लेता। रसनेन्द्रिय के वश में हो जाने पर सभी इन्द्रियां वश में हो जाती हैं।

'इन्द्रियाणि जयन्त्याशु-
निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं-
तन्निरन्नस्य वर्धते।
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्-
विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं-
सर्वं जिते रसे॥

वही ११/८/२०-२१

विषयों के द्वारा ही बुद्धि मलिन होती है। यदि मंत्र जप, कीर्तन, कथाश्रवण, सत्संग तथा हरिस्मरण का अनवरत अभ्यास किया जाय तो बुद्धियोग के द्वारा व्यक्ति परमकल्याण का भाजन बन सकता है।

को अनुभव किया था। ऐसी सहज साधनापूर्ण सिद्ध पुरुषों के सम्पर्क से ही सिद्ध हुआ करती है। सिद्धों के हास-विलास सभी क्रियाओं से शक्ति का स्फुरण होता रहता है। जिससे साधक अज्ञात रूप से सम्पर्की जनों के अन्तःकरण का विकास होता रहता है। कभी-कभी सूक्ष्म अहंकार की वृत्तियाँ इस विकास को अवरुद्ध कर देती हैं। जीवमात्र के कल्याण हेतु अवतरित महापुरुष अपने प्रिय जनों में अंकुरित अहंकार के बीज को समूल नष्ट करने में समय की देर नहीं करते।'

जिन दिनों गोपियों को प्रेम दीक्षा देकर प्रभु श्रीकृष्ण दानवों का दमन करने योगनिमित्त द्वारिका में रहने लगे थे। उन्हीं दिनों इधर व्रजांगनायें श्रीकृष्ण तल्लीनता में डूबी हुई व्रज निकुंजों में विक्षिप्तों का चरित्र करती सधाम प्रलाप करती हुई—अपना अस्तित्व को भूली हुई एक दूसरे को ही श्रीकृष्ण समझकर आलिंगन करती हुई भावसाधना की पराकाष्ठा हो जाने से मूर्छित होकर जमीन पर इधर-उधर पड़ी रहती थीं। श्री राधिका की कृष्ण विरह जन्य दशा का विवरण तो करना साधारण मन बुद्धि वालों से कैसे सम्भव हो सकता है। जब वे श्रीकृष्ण रूप में तन्मय हुई स्वयं को ही श्रीकृष्ण समझने लगतीं तथा कभी प्रकृतस्थ होने पर विरह की मार्मिक वेदना से बेसुध होती हुई स्फुट वाणी में कृष्ण-कृष्ण का प्रलाप करती तो वह सब परम-योगी को भी बांध विह्वल कर देता था। सोलह हजार रानियाँ-आठ परम साध्वी पतिपरायणा महारानियों के बीच, सकल ऐश्वर्यों से पूजित योगेश्वर राधिका की प्रेम विरह-वेदना से आन्दोलित हो उठते थे, और क्यों न हो जिनका सिद्धान्त ही है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" प्रभु के मुख से हे राधिके! राधिके! ऐसे स्फुटशब्द निकल जाते थे। जिन्हें सुनकर महारानियों रुक्मणी, सत्यभामा को तो बड़ा आश्चर्य होता। वे जानने की चेष्टा न करतीं कि गोपियों का उत्कृष्ट समर्पण किस भांति इन लोगों के समर्पण भाव से श्रेष्ठ है। जिससे वहीं दूसरी इन माननीय महारानियों में ईर्ष्या और अहं की वृत्ति जग उठी। अन्तरात्मा भगवान श्री कृष्ण ने सोचा कि इन सबों को उत्कृष्ट समर्पण का दृष्टान्त देना आवश्यक है, अन्यथा विश्रांतिपूर्ण क्रियायें अकल्याणकारी होंगी।

एक दिन प्रभु नर-नाट्य प्रातः से ही करने लगे। बन्दीजनों के स्तुतिगान तथा भेरी मृदंग आदि बाजों के सुमधुर ध्वनि से प्रातः जागृति होने वाले प्रभु आज शयनागार से निकले ही नहीं। महारानियों ने जब जाकर देखा तो पाया कि श्यामसुन्दर उदर पीड़ा के छटपटाते उनका पीताम्बर परम आच्छादित पर्यंक पर प्रभु कराह रहे हैं, अतीव कुंठित मुखमण्डल पर विवशताओं

छायी है महारानियों ने जो दृश्य देखा उससे मर्माहत हो उठीं। अपनी-अपनी मति के अनुसार प्रभु पीड़ा हरने हेतु उद्यम करने लगीं। देखते-देखते निपुण राज्य वैद्यों ने भी प्रभु के शयनागार में ही मंत्रणायें और उपचार करने लगे। औषधि, मंत्र, तंत्र एक-एक कर सभी निष्फल हो गये। किंचित् भी लाभ दृष्टिगोचर होता न दिखाई दिया।

महारानियाँ उपचारों को व्यर्थ हुआ देख अत्यन्त दुःखी हो उठीं। तभी वीणा-वादन करते हुए गगन मार्ग से ही महर्षि नारद अवतरित हुए। परन्तु महारानियों के आन्तरिक मंतव्य को समझकर वे भी प्रकटतः प्रभु की पीड़ा देख दुःखी हो उठे। महारानियों तथा सुहृदजनों में महर्षि नारद को देखकर एक सुखद आशा का संचार हुआ। महारानी रुक्मिणी ने आद्योपान्त प्रभु के कष्ट की कथा नारद बाबा को कह सुनाई तथा देवर्षि से प्रार्थना की कि आप कोई औषधि ऐसी प्रयोग में लावें जिससे शीघ्र ही भगवान श्रीकृष्ण ठीक हो जायें। महर्षि नारद ने कहा—अब आश्चर्य से चरण तल में रखने वाले प्रभु को निश्चित ही किसी विकट बाधा ने आ घेरी है, अन्यथा इतने बड़े-बड़े मर्मज्ञ, वैद्य, साधारण या असाधारण रोग को होता तो अब तक ठीक कर दिया होता। मुझे तो लगता है इस रोग का निदान हम लोगों के पास नहीं है और यदि है भी तो मात्र प्रभु को ही ज्ञात होगा। अतः श्री नारद जी ने वेदना से तड़पते भगवान श्रीकृष्ण से पूछा प्रभो! इस असाधारण कष्ट का निदान आप ही जानते हैं। आपके सभी भक्त जन आपकी पीड़ा से अत्यन्त दुःखी हैं। अतः आप बतलायें इस कष्ट की निदान की युक्ति क्या है? नरनाट्य प्रवीण प्रभु कराहते हुए बोले—नारद अब जीवन की कोई आशा नहीं है। यह पीड़ा अवश्य ही प्राण को शरीर से विलग कर देगी। मात्र एक ही निदान है वह भी बड़ा सहज है। यदि कोई मेरा भक्त भाव पूर्वक अपना चरणोदक मुझे पान करा दे तो मैं तत्काल ही स्वस्थ हो जाऊँगा। परन्तु एक बात और है—ऐसे भक्त को प्रायश्चित रूप में कोटिकल्पों तक रौरव नरक में वास करना होगा।

राजभवन के अन्तः से बाहर तक यह बात सबको विदित हो गया। महाराज कृष्ण कैसे स्वस्थ होवें। रौरव नरक वास कौन भोगने के लिए तत्पर होगा? देवर्षि अन्तर्गत अष्टमहारानियों से बोले, सौभाग्यवती पतिपरायणा महारानियों आप में से ही कोई उपचार क्यों नहीं कर देतीं। आप लोगों से बढ़कर देवपरायणा औरकौन है? परिणाम की भयानकता से विचलित भगिनियों ने कराहने के स्वर में कहा—देवर्षि! आप कैसे इस अनीति का पाठ हमें पढ़ा रहे हैं। पतिव्रता क्या अपना चरणोदक पान करायेगी।

उन्होंने कहा—नारद ! देखो शीघ्रता करो—तुम व्रज जाओ। वनचर मेरा नहीं अतीत हुआ है, हो सकता है वहां कोई मुझे चाहने वाला हो—जो रौरव नरक घोर यातना के बदले भी मुझे कष्ट मुक्त करना चाहे और अपना चरणोदक तुम्हें दे दे।

अतिशीघ्रता का भाव लिये देवर्षि अंतरिक्ष से व्रज पहुँचे। वहां वे उच्च स्वर में श्रीकृष्ण के अर्थ कुछ उपचार की घोषणा करते हुये विचरण करने लगे। कोई सामने नहीं आया। सभी कदली वनों में घूमते हुए उद्घोषणा सुन राधिका ने कहा—हे महान् ! तुम शीघ्र मेरे पास क्यों नहीं आते। नारद जी श्री राधिका देवी के सन्मुख गये। राधिका कृष्ण-विरह में इतनी अधिक क्षीण हो गई थी, पीत वर्णा थी कि उन्होंने इशारे से नारद से चरणोदक मांगकर पैर धोकर जल देते हुए आदेशात्मक वाणी में कहा—महान् ! शीघ्र उपचार ले जाकर श्रीकृष्ण को दो। नारद जी उस व्रज बाला के प्रेम को देख परीक्षा करने हेतु बोले देखो तुमने मेरी पूरी बात सुनी है या नहीं ? इस चरणोदक से श्रीकृष्ण तो ठीक हो जायेंगे, परन्तु तुम्हें कोटि रौरव नरक वास का ही प्रतिफल प्राप्त होगा। श्रीराधिकाजी क्रुद्ध हो उठीं, बोलीं तुम शीघ्र उपचारको लेकर द्वारिका जाते हो या नहीं अन्यथा मैं तुम्हें श्राप दूँगी, नारद बाबा भयभीतमना वहां से अदृश्य हो लिये। इस प्रकार श्रीकृष्ण वांछित उपचार पाकर स्वस्थ हो गये।

इधर महारानियों को बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि वह कौन परम आत्मा है जो रौरव कोटि नरक वास को जानते हुये भी उपचार दिया। नारदबाबा ने नाम बताया—श्री राधिका नाम की ग्वालिन ! रुक्मिणी जी ने कहा—देव ! उस बिचारी को आप प्रतिफल के बारे में क्या है बताना भूल गये थे। अब वह कल्पान्त तक रौरव यातना भोगेगी।

जगदात्मा श्रीकृष्ण विहँस उठे—देवियो ! रौरव नरक क्योंकर ! जो मेरी गति है वही गति उसकी भी है। अर्थात् वह मेरे परम धाम में है।

ज्ञान प्राप्ति के तीन उपाय—

१—मनन से—सर्वोत्कृष्ट

२—अनुसरण से—सबसे आसान

३—अनुभव से—सबसे कड़वा (कठोर)

तीन बातों पर अमल करो—

१—प्रेम सबसे

२—विश्वास थोड़ों पर

३—बुरा किसी का नहीं

रोग और उनके
कुछ उपयोगी उपचार

—ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश पाहीवाल

१. पुराना अपच— इसको दूर करने के लिए नित्य प्रातःकाल पद्मासन में बैठकर १५ मिनट तक अपनी नाभि पर दृष्टि स्थिर करने से अपच शीघ्र दूर हो जाता है।

२. दाँतों का रोग— शौच व लघुशंका करते समय दाँतों की दोनों पंक्तियों को एक दूसरे से जोर से दबाने पर दाँतों से सम्बन्ध रखने वाली सभी बीमारियाँ दूर होकर हिलते हुए दाँत भी मजबूत हो जाते हैं।

३. सिर के रोग— भोजन के पश्चात् बाल औंछने से (रबड़ की कंघी से नहीं) सर के व बाल रोग दूर होते हैं। बाल जल्दी नहीं पकते और न झड़ते हैं। भोजन के बाद १५ मिनट वीरासन से बैठने से पुराना वात अच्छा हो जाता है। इससे गहरी नींद आती है व स्वप्नदोष नहीं होता।

४. पेट सम्बन्धी रोग—

रोजाना पद्मासन से आधा घण्टा बैठकर दाँतों की जाड़ों से जीभ का अग्रभाग दबाये रहने से पेट सम्बन्धी शिकायतें दूर होती हैं और कोई रोग न होकर स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

५. स्वप्नदोष निवारण—

रोजाना आधा घण्टा सिद्धासन से बैठकर १०-१५ मिनट तक नाभि पर दृष्टि जमाये रखने से स्वप्नदोष सर्वथा नष्ट हो जाता है। ६ मास तक लगातार अभ्यास करने से पुराने से पुराना तथा भयंकर स्वप्नदोष नष्ट हो जाता है।

६. अजीर्ण निवारण—

प्रातःकाल निहार मुँह पान के पत्ते में १० काली मिर्च चबा-चबाकर खावे। कुछ दिनों में अजीर्ण सर्वथा दूर हो जायगा। स्वस्थता के साथ बैठकर नाभिमण्डल में दृष्टि जमाकर नाभिकन्द का ध्यान करने से भी अजीर्ण आदि रोग दूर हो जाते हैं।

७. रक्त विकार— खून खराब होने से फोड़ा फुन्सी हो जाने पर कुछ दिन शीतली प्राणायाम करने से रक्त साफ होकर चर्मरोग नष्ट हो जाते हैं।

८. कुष्ट रोग व दीर्घ आयु के लिए— मस्तक के ऊपर पूर्ण चन्द्र के समान ज्योति का ध्यान करने से आयु बढ़ती है व कुष्ठ रोग दूर होते हैं।

९. वृद्धावस्था को रोकना— हृदय के आगे सदा योगमयी ज्योति का ध्यान करने से सब तरह के रोग अच्छे होते हैं। व मनुष्य वृद्धावस्था से जल्दी से बच जाता है।

१०. राजयक्ष्मा (टी० बी०)— इसके निवारण के लिए क्षीर-समुद्र (दूध का समुद्र) का ध्यान करने से तथा अपने शरीर को इस प्रकार महसूस किया जाय जिस प्रकार हम समुद्र में तैर रहे हों। यह अमर तत्व ध्यान का साधन हमारे दादा गुरुदेव योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी द्वारा बताया गया है। जो साधक श्री प्रभु जी की परम् कृपा से अपने को क्षीर सागर में तैरते हुए देखने लगते हैं उनका राजयक्ष्मा (टी. बी.) रोग बहुत थोड़े ही दिनों में दूर हो जाता है और उनको प्रसन्नता होती है कि उसमें उनकी समस्त बिमारियाँ चली जाती है और बहुत ही थोड़े दिन के अन्दर अपने आप को पूर्ण स्वस्थ देखने लगता है।

११-—पेट सम्बन्धी सभी रोगों के लिए—

हमारे दादा गुरु योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने अपने मन में जीवनतत्व नामक साधन को प्रकट किया। इस जीवनतत्व साधन के अन्दर ६ क्रियायें हैं जिनके करने से पेट में इस प्रकार की अग्नि पैदा होती है जिसको 'जठर अग्नि' कहते हैं। इन साधनों के करने से मनुष्य को भूख खूब लगती है। ये भूख व अग्नि तब तक मन्द नहीं होती जब तक मनुष्य का स्वास्थ्य पूर्णरूपेण ठीक न हो जाय। इसके साथ-साथ इस साधन को करते हुए नाभि का ध्यान करने की विधि है जिसमें मन की एकाग्रता का स्वाभाविक साथ होता है और अच्छा दीखने लगता है। इस चक्र को देखते या आहुति देते हुए संयम बना रहता है और उससे अधिकांश रोगों की निवृत्ति हो जाती है। इसका सतत अभ्यास करने के बाद यही चक्र की कुण्ड की आकृति में बदल जाता है जिसके फलस्वरूप साधक का अलौकिक जगत में प्रवेश हो जाता है।

१२. प्यास व शीतोष्ण निवारण के लिए— प्यास से आकुल होने पर शीतकारी प्राणायाम अथवा जीभ के ऊपर खट्टी चीज रखने से प्यास की निवृत्ति होती है शरीर में साधारणतया गर्मी मालूम होने पर ठंडी चीज और ठंडा मालूम होने पर गर्म का ध्यान करना चाहिए।

१३. पुराना या भीतरी ज्वर— प्रातःकाल और तीसरे पहर पानी में नींबू का पत्ता सूँघने से पुराना व भीतरी ज्वर दूर हो जाता है।

१४. शरीर के विकार—प्रतिदिन एकाग्रचित्त होकर श्वेत कृष्ण व रक्त वर्णों का ध्यान करने से शरीर सब विकार नष्ट हो जाते हैं इसी कारण ब्रह्मा, विष्णु और महेश नित्य ध्येय हैं। संध्या वन्दन करना क्योंकि उस समय

का ध्यान करनेसे वात पित्त कफ और साम्यावस्था में आ जाते हैं तथा शरीर स्वस्थ व दीर्घजीवी होता है।

शरीर की स्वस्थता—

प्रातः काल सिर स्थित श्वेत कमल में श्वेत वर्ण गुरुदेव और रक्त वर्ण उनकी शक्ति का ध्यान करने से शरीर स्वस्थ रहता है। तथा विष्णु, शिव व गुरु और उनकी शक्ति श्वेत, रक्त और श्याम वर्ण का ध्यान करने से आशातीत लाभ होता है।

शरीर पुष्ट व रक्त शुद्धि के लिए—

प्रति दिन एक तोला घी में १० काली मिर्च डालकर घी को पीने से शरीर शुद्ध होता है।

सर दर्द के लिए—

प्रातः काल उठते ही नाक से ठंडा पानी पीने से मस्तक ठंडा रहेगा सर भारी नहीं रहेगा न सर्दी लगेगी।

नेत्र रोग—

सुबह उठते ही मुँह में शुद्ध पानी भरकर दूसरे पानी से आँखों में २० बार छींटे मारें।

दूसरा भोजन के बाद हर सांयं काल- सात बार कम से कम आँखों में छींटे मारें जितनी बार मुँह में पानी डाले उतनी बार ही आँखों और मुँह को धोना चाहिए। स्नान करते समय पैर के अँगूठे के नाखूनों में कड़ुआ तेल भर देना चाहिए। इन क्रियाओं से नेत्र रोग दूर होकर दृष्टि तेज होती है और आँखें स्निग्ध रहती हैं।

भोजन पाचन के लिए—

भोजन करने के आधा घण्टा पहले जल पीने से पेट और जठर की सफाई होती है व पाचक रस निकलने लगता है जो अन्न को पचाने का कार्य करता है। भोजन करते समय पानी न पीकर कम से कम आधा घण्टे बाद पानी पीना चाहिए क्योंकि अन्न और जल एक हो जाने से पाचक रस कम और देर में निकलता है।

पाचन शक्ति बढ़ाना—

सुबह उठकर नाभि के दाहिनी ओर से बाईं ओर मालिश करने व उठने से पहले कुछ देर पेट के बल लेटने से पाचन सम्बन्धी शिकायत दूर हो जाती है।

कान के रोग—

प्रातः व सन्ध्या के समय तर्जनी अंगुली कान में घुमाने से कान के रोग नहीं होने पाते नष्ट हो जाते हैं। इसे कर्ण साफी कहते हैं।

बुखार में—

बुखार के समय जो स्वर चल रहा हो उसे तब तक बन्द रखें जब तक बुखार उतर न जाय।

अजीर्ण व कब्ज में—

सदा दाहिना सूर्य स्वर चलने पर भोजन व जलपान आदि करें। भोजन के पश्चात् भी थोड़ी देर बांयी करवट लेटें इससे दाहिना स्वर चलने लगेगा।

हर प्रकार के दर्द के लिए—

जो स्वर चलता हो उसे बन्द कर देने से कैसा भी दर्द हो वह शीघ्र बन्द हो जायगा।

मनोइच्छा पूर्ति के लिए—

सुबह आंख खुलने पर जिस ओर का स्वर चल रहा हो उसी तरफ की हथेली मुख पर रखकर उसी ओर का पैर प्रथम जमीन पर रखकर चलने से जो मन में इच्छा लेकर उठोगे वही पूरी होगी।

पूर्ण निरोग रहने के लिए—

जो दिन में बांया स्वर (चन्द्र स्वर) चलाते और रात्रि को दाहिनी नाक से श्वास चलाते हैं उनके शरीर में कभी कोई रोग नहीं होता।

दैनिक जीवन में स्वर का प्रयोग—

१—कोई वस्तु ग्रहण करनी हो तो जो स्वर चलता हो उसी ओर का हाथ बढ़ा कर वस्तु लेनी चाहिए। किसी पूज्य पुरुष के हाथ से वस्तु ग्रहण करनी हो तो खाली हाथ लेन दे हाथ में फल लेकर ग्रहण करने से मनोकांक्षा पूर्ण होती है।

२—जिस व्यक्ति से काम लेना हो उसे चलते श्वास की ओर रखकर अपनी बात कहो ऐसा करने से वह तुम्हारी बात को अवश्य मान लेगा और कार्य सिद्ध होगा।

हकलेपन में—

जीभ को ऊपर के जबड़े से लगाकर टक-टक की आवाज करें इस प्रकार कम से २१०० बार करें। इससे हकलाना, तुतलाना ठीक हो जाता है।

बहरेपन के लिए—

तर्जनी दोनो हाथों की अंगुली दोनों कानों में घुमायें फिर एकदम झटके से निकालें इस क्रिया को कम से कम २० बार नित्य करने से एक हफ्ते में बहरापन दूर हो जाता है।

—×—

ॐ सतोगुण शांति व सन्तोष का दाता है। रजोगुण व तमोगुण अशान्ति के प्रतीक हैं तथा कामनाओं की वृद्धि करने वाले हैं। सतोगुणी मन सत्य को विचारने वाला तथा जानने वाला होता है। वास्तव में जीव का बन्धन व मुक्ति इन्हीं पर निर्भर है। एक जीवी इन गुणों का गुलाम होता है ये गुण उसे जैसा नाच नचाते हैं वह नाचता है।

—भोग रोग और योग से

सूर्य किरणों की उपयोगिता

—एक विशेषज्ञ

'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' के अनुसार इस मानवशरीर में रोग होना स्वाभाविक है। सम्भवतः इसे ही देखकर ऋषियोंने लोक-कल्याणार्थ व्याधिचिकित्साके लिये उपवेदों में आयुर्वेदको भी स्थान दिया। आयुर्वेदमें कई रोगों के निवारणार्थ सूर्यकिरण-सेवन और सूर्यार्चन का विधान है। मानव सूर्यकिरणों द्वारा आरोग्य प्राप्त कर सकता है, यह मान-कर एक प्रख्यात आयुर्वेदज्ञ और स्वास्थ्यशास्त्री डॉक्टर से सम्पर्क स्थापित कर 'सूर्यकिरणों द्वारा स्वास्थ्यलाभ'-विषयपर प्रेषक ने चर्चा की तो उन्होंने इस पर विस्तृत प्रकाश डाला, जिसका संक्षिप्तरूप यहाँ प्रस्तुत है ?

प्रश्न—डॉ० साहब ! आप इस क्षेत्र के प्रख्यात चिकित्सक हैं और सूर्यकिरणों के माध्यम से चिकित्सा करते हैं; कृपया यह बताइये कि सूर्यकिरण चिकित्सा-पद्धति प्राचीन है या नवीन, यह पूर्वकी देन है या पश्चिमकी, वर्तमानकाल में इसे लानेका श्रेय किसे है ?

उत्तर—देखिये ! इसमें कोई संदेह नहीं कि आयुर्वेदमें जहाँ रोगनाशहेतु औषधियोंकी बात कही गयी है, वहीं प्रत्येक रोगके रोगा-धिकारी देवताओंकी उपासना का भी निर्देश है इसके लिये उसमें यन्त्र, मन्त्र और स्तोत्र भी वर्णित हैं। शिवप्रोक्त शाबरमन्त्रोंमें भी अनेक रोगनाशार्थ मन्त्र कहे गये हैं। जहाँ तक सूर्य-किरण-चिकित्साकी बात है, यह निःसंदेह हमारे देशकी प्राचीन पद्धति है।

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'—अर्थात् सूर्य ही स्थावरजङ्गमकी आत्मा है। अथर्ववेदके एक सूक्तमें भी कहा है कि तेरा हृद्रोग और पाण्डु (पीलि-या, पीलिया) रोग सूर्यकिरणोंके साथ सम्बन्ध करने से नष्ट हो जायेगा। जहाँ तक आयुर्वेदमें सू० किरणोंकी बात है उसमें भी चर्म और कफ रोगोंके निवारणार्थ इस पर बल दिया गया है, यदि आप विचार करें तो पायेंगे कि सूर्यकिरणें इस पृथ्वी पर कामधेनुस्वरूपा और कल्पवृक्ष-तुल्य हैं। सूर्यकिरण-चिकित्सा-पद्धति प्राचीन और भारतीय है। पर इसके गुणों को पश्चिम-वालोंने भी जाना। वे विटामिन 'डी' के प्राप्त्यर्थ इसे ही एक मात्र साधन बताते हैं। यही नहीं, अमरीका के बहुतसे चिकित्सकोंने इसके सफल प्रयोग भी किये हैं।

पर यह भारत का अभाग है कि इसने आविष्कार तो बहुत किये, परन्तु इसकी मौखिक दासता में सभी अप्राप्य ज्ञान किये। मौर्य-गुप्त राजाओं के समय में यूनानी चिकित्सा आने लगी। अंग्रेजों के साथ एलोपैथी आयी। आयुर्वेद और उसके प्रयोग दबते ही रहे। इस आधारपर वर्णित चिकित्साओं वर्तमान स्वरूप में वर परिलक्षित होने लगे। उन्होंने अपनी 'आसमानी रंग और सूर्य-प्रकाश' नामक पुस्तक में आसमानी रंगों और सूर्य-किरणों से कई रोग समाप्त करने का वर्णन किया है। इसके बाद डॉ० वेसल्काटने अपनी (Blue and red lights) 'नीला और लाल प्रकाश' तथा डॉ० एडविन बेबिटने 'प्रकाश और रंगों के नियम'-नामक पुस्तकमें इस पद्धतिपर प्रकाश डाला है और डॉ० रोबर्ट मोहलिन्स साहब द्वारा अनेक दुःसाध्य रोगोंपर इसका सफल प्रयोग हुआ है।

अपने देशमें भी स्वनामधन्य स्व० स्वा० सरस्वती मस्त ने मराठी में अपनी पुस्तक 'कांच-जल-चिकित्सा' में इसकी चर्चा चलायी। कुछ वर्ष पूर्व बिलकुल श्रीयुत गोविन्द बापूजी ठोमरे इस विधामें सर्वाधिक सफल प्रयोग कर सहस्राधिक जनों को लाभान्वित किया।

प्रश्न—डॉ० साहब ! सूर्य-किरणों के माध्यम से क्या सभी रोग ठीक हो सकते हैं या कुछ विशेष ?

उत्तर—इस पद्धति के उपचार में नीले रंग के प्रयोग से बुखार, पुरानी पेचिश, अतिसार, संग्रहणी, खाँसी, श्वास-प्रश्वास, सिरदर्द, शिरोरोग, गर्मी, प्रमेह, मूत्ररोग, विस्फोटक, श्लीपद इत्यादि; लाल रंग के प्रयोग से समस्त वात व्याधि, पीले रंग से समस्त उदररोग, समस्त हृद्रोग आदि, हरे रंग से समस्त त्वचा-रोग और और विषविकार प्रायः सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

इस पद्धति का मुख्य तात्पर्य उस पद्धति से है जिसमें नशाधिक औषधियों का प्रयोग न कर औषधि-सेवन और संयम रूप में प्राकृतिक की प्रधानता हो और जिसमें सूर्य किरणों से मिश्रित जल, तैल, स्निग्ध शर्करा और गोलियों का प्रयोग हो, धूप स्नान का प्रमाण हो।

प्रश्न—आपने अपने तैल, शर्करा, स्निग्ध जल और गोलियों की बात कही। कृपया उन्हें निर्मित करने की संक्षिप्त विधि बतायें।

उत्तर—जल-विधि-इस पद्धति के अनुसार उपचार करने के लिये रोगानुसार विभिन्न रंगों की बोतलें लेनी चाहिये, जो सर्वथा स्वच्छ पारदर्शी और दाग या धब्बे से रहित हों। बोतल के रंग का ही उसका ढक्कन या कार्क (कॉर्ट) हो। फिर कूप, तालाब, नदी, झरना या नापाकल (हैण्डपाइप) का सर्वथा स्वच्छ जल चार परत मोटे वस्त्र से छान लें। तब

उसे किसी बोतल में इतना भरे कि केवल चार अंगुल ऊपर वह खाली रह जाय। फिर बोतल को ढक्कन से भली प्रकार बन्द कर उसे धूप में खुली हवा और स्वच्छ स्थान में एक लकड़ी की पटिया अथवा सिपाई या चौकी पर रखें। उस स्थान पर पूर्वाह्न दस बजे से अपराह्न पाँच बजे तक सूर्य-किरणें अबाध गति से आती हों और छाया न पड़ सके। पाँच बजते ही तत्काल बोतल वहाँ से हटाकर बोतल के रंग के ही पतले कागज में लपेट कर आलमारी में रख दे। धूप में रखी बोतलों में धूप से उष्णता पाकर जब रिक्त भाग में वाष्प बिन्दु एकत्र हो जाय तो उस जल को निर्मित मान लेना चाहिये। इस जल को रोग और मात्रा के अनुसार पी भी सकते हैं और इसकी पट्टी द्वारा या इससे धोकर बाह्य उपचार भी कर सकते हैं। किन्तु उपर्युक्त निर्देश का पालन अवश्य हो। त्रुटि हानिप्रद हो सकती है। यदि भूल से बोतल सूर्यास्त तक वहाँ रह जाय अर्थात् उस पर चन्द्रमा आदि की रोशनी पड़ जाय तो जल तत्काल फेंक देना चाहिये और बोतल को धो देना चाहिए। वैसे जल, शर्करा, गोलियां या तेल सभी चैत्र से कार्तिक मास तक तैयार करें, क्योंकि तब यथेष्ट किरणें मिलती हैं। जब कई रंग की बोतलें धूप में रखनी हों तो उन्हें सटाकर नहीं रखना चाहिए। एक बोतल में केवल एक बार जलादि तैयार कर उसमें तीन दिन तक नहीं रखें बल्कि दूसरी श्वेत वर्ण की बोतल में उलट दे। यदि कई बोतलें आलमारी में रखी हों तो उन पर उन्हीं रंगों का कागज लपेट दे। एक की छाया दूसरे पर न पड़ सके। एक दिन का तैयार जल केवल तीन दिनों तक प्रयोग करे, फिर दूसरा बना ले।

तेल—

सिर के रोग में आसमानी रंग की शीशी बोतल में शुद्ध तिल, नारियल या बादाम का तेल और त्वचा-रोगों में हरे रंग की बोतल में केवल तिल का तेल पूर्वोक्त रीति से भर कर डाटें या ढक्कन में कई लपेट कर भली भांति बन्द कर दे। उसे भी लकड़ी पर ही ६० दिनों तक रखें। प्रतिदिन कई बदलता रहे। तैयार हो जाने पर इन मिला सकते हैं, पर रंग नहीं।

दिव्य शर्करा—

अभीष्ट रंग की बोतलों में दूध की चीनी या पीसी मिश्री भरकर पूर्वोक्त विधान से धूप में रखे। शर्करा उसी बोतल में रहने दें। जिस समय धूप न हो और सूर्यतप्त जल उपलब्ध न हो, उस समय एक बड़ी कोरी बोतल में आधा सेर जल में तोला मात्रा शर्करा घोल दे तो वह जल भी पूर्वोक्त सूर्यतप्त जल के समान हो जायगा। सूखी शर्करा सेवन न करें।

गोलियां—

होमियोपैथिकी दूध से बनी सादी गोलियां

पूर्व प्रकाशित से आगे—(उपनिषद् कथा)

वाणी का महत्व

श्री सूरजप्रकाश शर्मा

इसके बाद नारद जी सनत्कुमार जी से प्रश्न करते हैं कि "भगवान क्या नाम से बढ़ कर भी कोई वस्तु है?" तो उत्तर मिलता है। "शब्द या नाम से बढ़कर भी अन्य पदार्थ है।" इस पर नारद जी ऋषि सनत्कुमार जी से प्रार्थना करते हैं—"भगवान! वह मुझे बताएं।" सनत्कुमार जी इस प्रश्न के उत्तर में ब्रह्म ज्ञान की दूसरी सीढ़ी बताते हैं—यथा—

वाग्वाव नाम्नो भूयसी। वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति तथा यजुर्वेदादि॰ वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति। अतः वाचमुपास्स्वेति।

इस प्रकार ऋषि सनत्कुमार बोले—वाणी

(पिछले पृष्ठ का शेष)

आवश्यकतानुरूप कई बोतलों में पन्द्रह दिन तक रखकर तैयार कर लें। वर्षा के समय पानी या शर्बत के स्थान पर उसकी एक या दो गोलियां मुख में रखकर पानी पी लें।

धूप-स्नान—

इसके विषय में प्रायः सभी जानते हैं। पर यदि रोगी को कमरे में स्नान कराना हो तो कमरे की खिड़कियों में रोगानुसार कांच लगा दें तो दिन भर रोगी धूप सेवन कर सकता है।

प्रश्न—डा० साहब! कृपया यह बताइये कि क्या यह पद्धति अन्य पद्धतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है? यदि हां, तो इसे सर्वसाधारण में मान्यता क्यों नहीं प्राप्त है?

उत्तर—देखिये भाई! आज चमत्कार का युग है। शिशु से वृद्धपर्यन्त सभी चमत्कार चाहते हैं। उन्हें प्राकृतिक चिकित्सा स्वीकार नहीं है। वे सद्यः प्रभाव चाहते हैं, भले ही वह किसी अन्य आपत्ति को जन्म दे दे। इस पद्धति में ऐसी बात नहीं है। सर्वसुलभ है, अल्पव्ययी है और गुणकारी भी है। पर विज्ञान द्वारा आलसी और सुखेच्छु मानव इसमें सावधानी और प्रयत्न का कार्य क्यों करें? नहीं तो यह पद्धति उचित प्रकार से प्रयुक्त होने पर अभीष्ट सिद्ध हो सकती है। अतएव श्रेष्ठ है।

—×— —×—

ही नाम से कही है। वाणी ही ऋग्वेद का ज्ञान दिलाती है। यजुर्वेदादि हों या अन्य शास्त्र इन को वाणी ही इन सब का ज्ञान कराती है। अतः श्रुति की वाणी की उपासना करो, ऐसा कहते हैं। हे नारद तुम शब्द की सिद्धि के बाद वाणी की उपासना करो, क्योंकि वाणी ब्रह्म प्राप्ति की दूसरी सीढ़ी है।

वाणी में बड़ी भारी शक्ति है, यह बिल्कुल ठीक सत्य है क्योंकि वाणी का जन्म शब्दों के समूह से होता है। अतः वाणी शब्द से बड़ी है। हिन्दी में एक प्रसिद्ध कहावत है—

यथा—

बातहि हाथी पाइए
बातहि हाथी पांव।

अर्थात् वाणी से ही मनुष्य को पुरस्कार में हाथी की प्राप्ति होती है और वाणी से ही वह हाथी के पांव के नीचे कुचलवा दिया जाता है। वाणी से ही मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, वाणी से ही वह नरक का अधिकारी होता है। वाणी की शक्ति से ही मनुष्य हजारों लोगों का नेता बन कर उन्हें अपना अनुयायी बना लेता है। जिस ने वाणी पर अच्छी प्रकार से संयम नहीं किया वह चाहे कितना भी प्रयत्न करे, परन्तु वह साधारण मनुष्य ही रहता है, बल्कि पशुओं के समान दूसरों का दास बन कर दुःखी जीवन व्यतीत करता है। यही कारण है कि ज्यादा बकवास करने वाला सदा असत्य तथा न कहने योग्य कह जाता है।

आज प्रायः स्त्री पुरुष व बच्चे अशुद्ध व अयोग्य शब्द बोलने में अपना गौरव मानते हैं, यह नैतिक पतन का सूचक है। वाणी हमारे लिए उसी तरह है जिस प्रकार वृक्ष के सुगन्धित पुष्प। वह आते जाते पथिक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। अतः हम सब मनुष्यों को अपनी वाणी पर संयम करना चाहिए। हमारी वाणी सुसंस्कृत और सुपरिमार्जित होनी चाहिए। फिर उसके साथ सत्य भी हो और माधुर्य भी होना चाहिए लेकिन कभी भी मीठा झूठ नहीं जैसे मनुजी लिखते हैं—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष
धर्मः सनातनः॥
(मनु०)

—×— —×—

इस प्रकार प्रिय और सत्य वाणी मनुष्य को देवता बना देती है। यही कारण है कि वाणीका संयमी सर्वत्र पूज्य होजाता है। इसके साथही वाणी पर संयम बहुत जरूरी है क्योंकि संयम रहित वाणी सदा कलंककारिणी होती है जिस के कारण कलह, जातियों तथा देशों

का सर्वनाश हो जाता है। जैसे आज-कल सर्वत्र ही पतन हो रहा है केवल वाणी की कटुता और असंयम से। इसीलिए कहते हैं तीर के घाव तो भर जाते हैं किन्तु वाणी का घाव नहीं भरता। वाणी के असंयम ने ही तो महाभारत के युद्ध का सूत्रपात किया था, जिसमें स्वयं भगवान कृष्ण को भी युद्ध में जुट जाना पड़ा।

मन्थरा ने कैकेयी के कान में ऐसी वाणी फूंकी कि महान अवतारी रामचन्द्र जी को भी १४ साल वनों में भटकना पड़ा। शूर्पणखा की वाणी के कारण ही तो राम-रावण युद्ध हुआ, यह भी वाणी ही थी जिसके द्वारा श्रीरामजी ने अपने घर में लगी हुई आग पर पानी डाला था। कितना संयम था उनकी वाणी में—

सुन जननी सोइ
सुत बड़भागी।
जो पितु मातु
चरन अनुरागी॥
(रामायण)

श्रीराम जी ने कैकेयी की आज्ञा सुनकर यही कहा था कि आप ने ऐसी आज्ञा देकर मुझ पर तीन उपकार किये हैं। एक तो यह कि मैं माता-पिता की आज्ञा का पालन करूँगा। दूसरा यह कि प्राणप्रिय भ्राता को राज्य मिलेगा, तथा तीसरा यह कि वन में मुझे ऋषि-मुनियों की सेवा का अवसर मिलेगा। संयमित वाणी का ऐसा उदाहरण अन्य साहित्य में ढूँढने पर नहीं मिलता।

वाणी के महत्व को दृष्टि में रखकर ही मनु जी ने लिखा है कि—गृहस्थ के घर में अतिथि के लिए चार पदार्थों का होना अति आवश्यक है।

यथा—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्
चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे
नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(मनु ३/१०१)

अर्थात् तृण से बना बिछौना, भूमि आसन जल, तथा प्रिय वचन यह चार दरिद्र गृहस्थ के यहाँ से भी अतिथि को मिलना चाहिए। यह चारों पदार्थ परमात्मा ने सब को ही दिये हैं। इन चारों रत्नों के भण्डार से हम अपने आप को सुखी, दीर्घ जीवी और सर्व प्रिय बना सकते हैं।

सन्त कबीर जी वाणी के महत्व को इस प्रकार समझाते हैं।

यथा—

वाणी ऐसी बोलिये,
मन का आपा खोय।

औरों को शीतल करे,
आप भी शीतल होय ।।
कौवा किस का धन हरे,
कोयल किसको देय ।
मीठी वाणी बोलकर,
जग अपना कर लेय ।।

अतः वाणी के बिना हम कुछ भी नहीं समझते, निरे पशु ही रहते हैं। निःसन्देह शब्द या नाम की महिमा अकथनीय है परन्तु वाणी के बिना शब्द किस काम के हैं? शब्द तो वाणी के अन्तर्गत हैं। वाणी ही उनका चयन कर के उन्हें महत्ता प्रदान करती है। शब्दों के अर्थ वाणी द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं। क्योंकि जैसा कोई मनुष्य बोलना चाहता है— मीठा, प्यारा, आदरसूचक अथवा अनादर-सूचक, कटु और अप्रिय वैसे ही शब्द चुनकर वह वाणी को उसी दिशा में प्रसार करता है। शब्दों की चार प्रकार की शक्ति होती है, जिस में शब्दों की व्यंजना शक्ति द्वारा वाणी उनका अर्थ दूसरा भी कर सकती है। जैसे—

तुम बड़े धनी हो, "गजब की मत पाई हो" "आप बड़े सत्यवादी हैं" तुम बड़े अक्लमन्द हो "आप खायेंगे क्या" का अर्थ वाणी के जरा से हेर-फेर से शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ के विपरीत हो सकता है। इस प्रकार सैंकड़ों हजारों उदाहरण नित्य प्रति हम देखते सुनते हैं। कहने का अर्थ यह है कि शब्दों की मिठास, कड़ुवाहट, असभ्यता, शिष्टता वाणी के ही अधीन है।

कड़वी और असंयत वाणी ने हमें बहुत ही हानि पहुँचाई है। हम देखते हैं हमारे आश्रमों तक में जो भी संस्कृति के शुभ मंदिर माने जाते हैं वाद-विवाद झगड़े, अशान्ति संयम रहित वाणी के ही कारण होते हैं। एक सन्त ने मुझे कहा कि पूरे विश्व में जितने भी झगड़े, मुक-दमे, आत्महत्याएँ, हत्याएँ जिन की इस समय मार-धाड़ मच रही है ८० प्रतिशत केवल हमारी संयम रहित वाणी के कारण हैं।

—क्रमशः

व्यक्ति सर्व के लिए है

—व्यक्ति न स्वयं के लिए न होकर सबके लिए है। इसी प्रकार नाक, कान, हाथ, पांव पेट आदि अवयव स्वयं के लिए न होकर शरीर के लिए हैं। यदि अनेक अवयव स्वयं के लिए जीने लग जाय, तो वह जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक अवयव को शरीर के लिए आत्म सर्वस्व का समर्पण करना ही पड़ता है। आंख, नाक, कान आदि अवयवों को शरीर रक्षा के लिए जीवित रहना पड़ता है। यदि वे शरीर की चिन्ता न करके अपने-अपने लिए जीने लग जाएँ, तो शरीर की मृत्यु ही समझनी चाहिए। इसलिए यहां हमें जीवन का नियम यही सीखना है। कि प्रत्येक अवयव समर्थ बने और अपनी शक्ति सब शरीर के पोषण के लिए अर्पित करें।

योगाभ्यासी श्री एकनाथ जी

श्री केशव जी उपाध्याय, वाराणसी

परम प्रभु श्री गुरुदेव भगवान की कृपा से प्रस्तुत लेख में एक ऐसे गृहस्थ योगाभ्यासी साधक का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है, जिसने अपने पूज्य आराध्य गुरुदेव की कृपा से योग की वह उच्च स्थिति प्राप्त की, जिसे अर्जित करने के लिए बड़े-बड़े संत-महात्माओं और वैरागियों को अनेकानेक जंगलों में वर्षों तक धूनी रमानी पड़ती है। इन महात्मा एकनाथ का जीवन इस तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है, कि योग साधना के क्षेत्र में गृहस्थ जीवन, वैरागी महात्माओं के जीवन से बिल्कुल ही नीचे स्तर का नहीं है। साथ ही इन का जीवन इस बात का भी प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सर्व समर्थ गुरुदेव की कृपा ही साधक की श्रेष्ठता का एक मात्र कारण है।

साधक एकनाथ जी का मत था कि यदि किसी प्राणी ने गृहस्थ आश्रम में निवास करते हुए सांसारिक भोगों और ऐश्वर्यों के प्रति अपना आकर्षण समाप्त कर लिया है, तो निश्चय ही वह उच्चकोटि का साधक है। श्री एकनाथ जी प्रायः कहा करते थे कि नाव तो पानी में चलती है, पानी में चलती है, और भविष्य में भी पानी में ही चलेगी। ध्यान केवल एक बात का रखना है कि नाव के किसी छिद्र द्वारा नाव में पानी भर गया तो पानी पर चलने वाली नाव, पानी में ही डूब जायेगी। ठीक इसी प्रकार मानव शरीर रूपी नाव संसार सागर में चलने के लिए ही बनायी गई है।

इन महान योगाभ्यासी संत एकनाथ जी का जन्म सम्वत् १५९० में, महाराष्ट्र प्रान्त के पैठण नगर में, श्री सूर्यनारायण जी एवं श्रीमती रुक्मिणी देवी की सन्तान के रूप में हुआ था। इनके माता पिता उच्च कोटि के ईश्वर भक्त थे। श्री एकनाथ जी का जन्म मूल-नक्षत्र में हुआ था, अतः अल्पायु में ही इनकी माता जी और इनके पिता जी परलोक सिधार गये। आप को दादी जी ने आप का लालन-पालन किया। इनके दादा जी के घर पर नित्य सायंकाल रामायण और श्री मद्भागवत की कथा होती थी। इन कथाओं का प्रभाव इनके मानस पटल पर बड़ा ही गहरा पड़ा, और शायद यही कारण था कि बचपन से ही आप कीर्तन-प्रेमी और ईश्वर भक्त बन गये थे। कीर्तन भजन गाते-गाते वे इतने मस्त हो जाते थे कि अपनी

सुख-दुख खो देते थे। एक समय वह किसी मंदिर में कीर्तन गाने गये, इनके साथ चार पांच और बालक थे। कीर्तन करते-करते करीब आधी रात हो गयी और सभी साथ के बालक अपने घरों को चले गये। इस कीर्तन की मस्ती में, वे आनन्द भाव से मंदिर में ही ध्यानस्थ हो गये, रात के करीब चौथे पहर, इन्हें आकाश-वाणी सुनाई दी कि तुम्हें जनार्दन पन्त से दीक्षा ले लेनी चाहिये। वही तुम्हारे आध्यात्मिक गुरुदेव हैं। उसी समय आप मंदिर से बाहर निकले एवं अपने गुरुदेव की खोज करना आरम्भ कर दी। चूंकि ईश्वर आज्ञा से गुरुदेव की तलाश कर रहे थे अतः गुरुदेव आप को मिल ही गये। इसके पश्चात् आपने अपने को गुरु सेवा में अर्पण कर दिया।

अपने आपको गुरु-चरणों में समर्पित करने के पश्चात् श्री एकनाथ जी ने गुरु-निर्दिष्ट मार्ग से अपनी साधना आरम्भ की। साधना काल में ही आप को गुरुदेव की कृपा से भगवान श्रीकृष्ण और भगवान दत्तात्रेय जी का स्थूल दर्शन लाभ हुआ। कुछ काल तक गुरुदेव के समीप रहकर साधना करने के पश्चात् गुरुदेव ने आप को अनुष्ठान करने सूलभंजन पर्वत पर भेज दिया। प्रत्यक्ष-दर्शियों के अनुसार, अनुष्ठान के समय जब वह ध्यान में बैठते थे, एक विषैला सर्प उनके शरीर से लिपट कर बराबर झूलता रहता था। अनुष्ठान की अवधि पूर्ण होने पर वह अपने गुरुदेव के पास चले। गुरु सेवा में कुछ दिन व्यतीत करने के बाद गुरुदेव ने इन्हें तीर्थ-यात्रा करने की आज्ञा प्रदान की। इस आज्ञानुसार श्री एकनाथ जी का करीब बारह वर्षों से कुछ ज्यादा समय तीर्थ यात्रा में लग गया। तीर्थ से लौटने पर पुनः आप गुरु चरणों के पास पहुँच गये तथा गुरु-सेवा करने लगे। अकस्मात् गुरुदेव ने आज्ञा दी, "एकनाथ, अब तुम अपने घर को चले जाओ, और अपना विवाह करके गृहस्थ जीवन व्यतीत करो। हमारी शुभ-कामना सदैव तुम्हारे साथ रहेगी।" पहले तो एकनाथ जी को अपने गुरुदेव के यह वाक्य बड़े ही अटपटे से लगे, परन्तु अपने प्रभु के आदेशानुसार आप घर आये एवं कुमारी गिरिजादेवी के साथ इनका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ, गुरु कृपा कुछ ऐसी रही कि आप की पत्नी श्रीमती गिरिजा देवी सुलक्षणा और सर्वगुण सम्पन्न निकली। कुछ विद्वानों का मत है कि यदि श्रीमती गिरिजादेवी जैसी महिला, श्री एकनाथ जी को सुलभ न होती तो शायद उनकी साधना अधूरी रह जाती। समय चक्र के साथ श्री एकनाथ जी के यहाँ तीन सन्तानें पैदा हुईं। एक लड़का जिसका नाम था हरि और दो कन्यायें जिनके नाम हैं गंगा और गोदावरी। श्री एकनाथ जी बहुत ही सरल

और क्षीण युक्त महापुरुष थे। कुछ लोगों का विचार तो यह है कि अपने पूरे जीवन काल में श्री एकनाथ जी को कभी भी क्रोध नहीं आया। उनकी सहनशीलता की कोई सीमा न थी? इसका अनुमान निम्न घटना क्रम से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग आपके गांव के करीब के दूसरे गांव के एक गरीब ब्राह्मण से सम्बन्ध रखता है। गरीब ब्राह्मण ने अपने बालक का उपनयन संस्कार करने का निश्चय किया। इस संस्कार हेतु उसने दो सौ रुपयों की नितान्त आवश्यकता थी। कर्ज लेने के लिये उसने अनेक लक्ष्मी सम्पन्न लोगों से प्रार्थना की, परन्तु किसी ने उसे कर्ज नहीं दिया। अन्त में जब वह एक जमींदार के यहां गया, जो आसुरी वृत्ति का था, तो उसने कहा कि कर्ज की क्या बात है? मैं तुम्हें दो सौ रुपया इनाम में दूंगा। तुम्हें केवल एक कार्य करना है और वह है श्री एकनाथ जी में अन्दर क्रोध उत्पन्न करना। चूंकि गरीब ब्राह्मण पैसे के लिये परेशान था अतः उसने श्री एकनाथ जी को क्रोधित करने का निश्चय कर लिया। दूसरे दिन अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रातः ही वह एकनाथ जी के निवासस्थान पर पहुंच गया। जिस समय ब्राह्मण एकनाथ जी के यहां पहुंचा, उस समय एकनाथ जी आसन पर बैठकर पूजा कर रहे थे, ब्राह्मण उनकी गोद पर बैठ गया। श्री एकनाथ जी ने बिना कुछ कहे अपनी पूजा जारी रखी।

पूजनोपरान्त जब एकनाथ जी की धर्मपत्नी भोजन लेकर आयीं और थाली जमीन पर रखने के लिये झुकीं, उसने श्रीमती गिरिजा देवी के कन्धे पर चढ़ने का प्रयास किया। मुस्कराकर गिरिजादेवी ने कहा, "कन्धे पर बैठ जाओ बेटा। मैं तुम्हें नीचे नहीं गिरने दूंगी।" श्री एकनाथ जी पत्नी का यह उत्तर सुनकर ब्राह्मण बहुत लज्जित हुआ और फूट-फूटकर रोने लगा। श्री एकनाथ जी को दया आ गयी, उन्होंने उसको समझाकर शान्त किया एवं रोने का कारण पूछा। ब्राह्मण ने सारा तथ्य एकनाथ जी को बता दिया। तथ्य को समझ लेने के बाद श्री एकनाथ जी ने मुस्कराते हुए कहा, "अगर तुमने यह तथ्य मुझे पहले ही बता दिया होता, मैं अवश्य ही दिखाकर क्रोध करता और तुम्हें रुपये मिल ही जाते।" इसके पश्चात् श्री एकनाथ जी ने उस गरीब ब्राह्मण के लिये दो सौ रुपये का प्रबन्ध करा दिया।

श्री एकनाथ जी की दयालुता और योग-शक्ति युक्त एक चामत्कारिक घटना का विवरण इस प्रकार से है। अपने दादी के संस्कार का पूर्ण उत्तरदायित्व श्री एकनाथ जी ने अपने हाथ में ले लिया। श्राद्ध की सभी तैयारी उन्होंने पूर्ण करायी और श्राद्ध में भोजन करने

के लिये अपने आस-पास के सभी ब्राह्मणों एवं परिचितों को निमन्त्रित किया। श्राद्ध के दिन वे अपने दरवाजे के सामने बैठ कर निमन्त्रित ब्राह्मणों की प्रतीक्षा कर रहे थे। सभी भोज्य पदार्थ तैयार हो गया था, और उसकी गंध सुगंध आस पास फैल रही थी। निम्न-जातीय गरीब चार व्यक्ति, श्री इनके दरवाजे के पास से होकर जाने वाले रास्ते से गुजरे, धीरे धीरे आपस में बात कर रहे थे, कि कितना सुगन्धित और उत्तम भोजन बनाया गया है। श्री एकनाथ जी ने उन चारों व्यक्तियों को बुलाकर सबसे पहले उन्हीं को भोजन कराया। बाद में जब ब्राह्मण लोग भोजन करने आये तो आपने उन लोगों की नाराजगी भी उनकी मनोभावना जानकर सोलह ब्राह्मणों के लिए तुरन्त अलग भोज्य-पदार्थ तैयार करवाया। परन्तु ब्राह्मण लोग नाराज होकर लौट गये कि तुमने पूर्व आपने निम्न-जातीय वर्ग को अपने श्राद्ध में भोजन कराया है, अतः हम आपके श्राद्ध में भोजन ग्रहण नहीं करेंगे। श्री एकनाथ जी ने पहले तो ब्राह्मणों से, अनेक प्रकार से भोजन ग्रहण करने के लिये निवेदन किया परन्तु जब वे राजी नहीं हुए तो आपने हाथ में जल लेकर भोज्य पदार्थ ग्रहण करने के लिये पितरों का आह्वान किया। इस घटना का मुख्य अंश तो यह है कि पितरों ने सशरीर उपस्थित होकर श्राद्ध का भोजन सप्रेम ग्रहण किया।

इसी सिलसिले में श्री एकनाथ जी से सम्बन्धित एक और रोचक प्रसंग का वर्णन करना उचित होगा। आप के गांव से काफी दूर का एक ब्राह्मण था जिसके पास 'पारस' पत्थर था। वह उस पत्थर को अपने प्राण से ज्यादा समझता था और बड़े ही हिफाजत से रखकर उसकी रक्षा किया करता था। दैव योगसे एकबार उसके मन में तीर्थ यात्रा करने का विचार दृढ़ता से बन गया। यात्रा में 'पारस' पत्थर साथ रखने से गायब होने का डर था और पारिवारिक जनों को सौंपने पर झगड़ने का डर था। अन्त में श्री एकनाथ जी के ऊपर ही उसका विश्वास हो गया और अपना प्राण-प्यारा पारस पत्थर उसने श्री एकनाथ जी के पास ही रखना उचित समझा। जब वह तीर्थ-यात्रा पर जाने लगा तो पारस पत्थर के साथ श्री एकनाथ जी के पास पहुँचा और पूरी बात बताकर प्रार्थना की कि, दुनियामें सिर्फ आप पर ही मेरा विश्वास है इसलिए हमारा यह पारस पत्थर अमानत के तौर पर सुरक्षित रखने की कृपा की जाय। श्री एकनाथ जी ने मुस्कराकर स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा, "इस पारस पत्थर को भग-वान के सिंहासन के नीचे रख दो, इससे ज्यादा सुरक्षित स्थान हमारे पास दूसरा नहीं है।" ब्राह्मण 'पारस' वहीं रखकर तीर्थ-यात्रा पर

चला गया।

जब ब्राह्मण की तीर्थ-यात्रा समाप्त हो गयी तो वापसी में वह सबसे पहले श्री एकनाथ जी के पास पहुँचा और उसने अपना 'पारस' पत्थर लौटाने की प्रार्थना की। आपने आदेश दिया, जहाँ रखा था, वहीं होगा ले लो। ब्राह्मण ने भगवान के सिंहासन के नीचे देखा तो वहाँ 'पारस' नहीं था। उसे श्री एकनाथ जी पर शक पैदा हो गया। वह श्री एकनाथ जी को सन्देह की दृष्टि से देखता हुआ अपने पारस पत्थर की वापसी की प्रार्थना बार-बार करने लगा। श्री एकनाथ जी को उस ब्राह्मण की बार-बार प्रार्थना पर दया आ गई। आपने श्री उद्धव नामक सेवक को बुलाया जो नित्य प्रातः पिछले दिन भगवान को अर्पण किया हुआ सामान जैसे फूल, पत्ता, माला आदि प्रातः ही गोदावरी नदी में डालने जाया करता था। श्री एकनाथ जी ने सेवक उद्धव से इस विषय में जानना चाहा परन्तु उसने अनभिज्ञता प्रकट की। सेवक उद्धव ने प्रार्थना की कि महाराज जी ! हो सकता है मेरी असावधानी से पारस पत्थर निर्माल्य के साथ गोदावरी में बह गया हो। उसकी प्रार्थना सुनकर श्री एकनाथ जी, ब्राह्मण के साथ गोदावरी नदी के किनारे गये। श्री एकनाथ जी ने गोदावरी नदी में अपना हाथ डाल कर पानी से छोटे-छोटे अनेक पाषाण खण्ड निकाले और अपना हाथ ब्राह्मण के सामने करके कहा, "इनमें से जो तुम्हारा पारस पत्थर हो, ले लो।" ब्राह्मण ने देखा कि उनके करतलगत् हाथ के सभी पाषाण पारस पत्थर ही हैं और वैसे ही हैं जैसा उस का पारस पत्थर था। वह आश्चर्य से एकनाथ जी को देखने लगा। श्री एकनाथ जी ने अपने हाथ से एक 'पारस' पत्थर उस ब्राह्मण को देकर शेष सभी को उसके सामने ही गोदावरी नदी में बहा दिया।

उस समय की प्रथा विपरीत आपने स्त्री और पुरुष दोनों वर्गों में समान रूप से योग-साधना की भागीरथी प्रवाहित करने का प्रयास किया। कम पढ़े लिखे होने के बावजूद आप ने चतुःश्लोकी भागवत, रुक्मिणी-स्वयंवर, चिरंजीव पद, भावार्थ रामायण, एकनाथी भागवत आदि अनेक ग्रन्थों की सुन्दर शब्दों में रचना की। अपनी [illegible] वर्ष की अवस्था (सम्वत् १६५६ तक) तक, अनेक प्राणियों को आस्तिक और योग जिज्ञासु बनाकर, इस महान योगाभ्यासी साधक ने अपने नश्वर शरीर का त्याग किया। अब हम भी अपने प्रभु के श्री चरणों में साष्टांग प्रणाम के साथ लेख को यहीं विश्राम देते हुए यही प्रार्थना करते हैं कि अपनी कृपा सदैव बनाये रखने की कृपा करें।

देखो कंटीली कठिन डगरिया

—सुश्री चन्द्रावती राघव बालब्रह्मचारी

सहस्र दल की चली डगरिया,
ऊपर सोहे स्वर्ण नगरिया।
चली जात है मगन गुजरिया,
देखो कंटीली कठिन डगरिया।

× × × × ×

है परमधाम की सुवासिनी, ब्रह्मरंध्र में जोतिप्रकाशनी।
है, सत्य सार की उपासनी, बनी परा की निवासनी॥

पारब्रह्म की सुनी बांसुरिया,
प्रभु-प्रेम-जल, भरी मटकरिया।
चली है सखी शून्य नगरिया,
कहां है मेरे राम सांवरिया॥

× × × × ×

अजा-चिन्मयी शक्ति अंशनी, श्री देव वंश अवतंसनी,
बे भ्रमर कुंड की हंसनी, है काया भवन विध्वंसनी॥

श्री रामदेव की बनी बहुरिया,
प्रेम योग रंगी ओढ़ि चुनरिया।
बजै पैंजनी महा मधुरिया,
चन्द्रिका आत्मा, रामबहुरिया॥

—o—

पता:—
ब्रजमंडी निवास बालाबाई का बाग,
माधवगंज-लश्कर, ग्वालियर (म०प्र०)

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

❀ आचार्य शङ्कर द्वारा निरूपित तत्त्वबोध ❀

आत्मा कः ?

स्थूलसूक्ष्मकारण शरीराद्व्यतिरिक्तः पञ्चकोशातीतः सन्नवस्था- त्रयसाक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः सन् यस्तिष्ठति स आत्मा ॥ १ ॥

भाषा अर्थ

प्रश्नः—आत्मा किसे कहते हैं ?

उत्तरः—स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर से अन्य, अन्न मय आदि पाँचों कोशों से दूर और जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति नाम तीन अवस्थाओं का साक्षी होकर जो सत् चित्त और आनन्दरूप हो रहता है उसे आत्मा कहते हैं। अर्थात् आत्मा वह है जो स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर से अलग है, जो अन्नमय प्राणमय आदि पाँचों कोशों से दूर है जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का साक्षी है और जो सत् चित् आनन्द रूप है ॥१॥

स्थूलशरीरं किम्

पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादिभोगा- ऽयतनं शरीरम्, अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यतीति षड्विकारव- देतत्स्थूलशरीरम् ॥२॥

भाषा अर्थ

प्रश्नः—स्थूल शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तरः—पञ्चीकृत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश आदि पाँचों महाभूतों से किया गया, कर्मों के द्वारा उत्पन्न सुख और दुःख आदि के भोगने का प्रधान आश्रय बना होने वाला और स्थिति, उत्पत्ति, वृद्धि, बदलना, घटना, क्षीण पड़ना और नाशरूप छहों विकार वाला स्थूल शरीर कहलाता है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी आदि महाभूतों के पञ्चीकरण से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। महाभूतों के पञ्चीकरण का यह प्रकार है कि प्रथम आकाश को दो भागों में बाँटकर एक भाग को अलग रख देना। फिर दूसरे भाग को चार भाग में बाँटकर अलग रखे हुए आधे भाग को इसी प्रकार बाँटे गये वायु के भागों में मिला देना। इसी भाँति

वायु को विभाग करके उसे तेज भाग मिला देना। तेज भाग को बाँटकर, जलभाग में मिला देना। जल भाग को पृथ्वी में मिला देना। इन्हीं भागों के मिलाने को पञ्चीकरण कहते हैं। इसी पञ्चीकरण अवस्था का नाम स्थूलशरीर है, जब फिर पृथ्वी आदि भूतों के भागों को अलग-अलग करके अपने-अपने कारण महाभूतों में लीन कर देते है तब स्थूल शरीर का नाश हो जाता है। इस स्थूल शरीर के सहायक उपादान शुभ-अशुभ कर्म है। शुभ-अशुभ सुख-दुःख का भोग उत्पन्न होता है। स्थूल शरीर इसका उपभोग करता है। इस स्थूल शरीर की छः अवस्था होती है। प्रथम अवस्था अस्ति है। अस्ति शब्द का अर्थ है सत्ता, अर्थात् उत्पन्न होना। द्वितीय अवस्था जनन, अर्थात् उत्पन्न होना है। तृतीय अवस्था वर्धन अर्थात् कदाचित बढ़ना और कदाचित् घटना। चतुर्थ अवस्था विपरिणाम अर्थात् क्रमसे बढ़ना। पञ्चम अवस्था अपक्षय अर्थात् वृद्ध आदि होने पर शरीर का शिथिल होना। और छठवीं अवस्था नाश अथवा शरीर का पात होना। इसी को लोग स्थूल शरीर कहते है ॥२॥

सूक्ष्मशरीरंकिम् ?

अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यसुखदुःखादि— भोगसाधनं पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च प्राणाः मनश्चैकं बुद्धिश्चैकाएव सप्तद-शकलाभिः सह यत्तिष्ठति तत्सूक्ष्मशरीरम् ॥३॥

भाषा अर्थ

प्रश्नः— सूक्ष्म शरीर किसे कहते है ?

उत्तरः—अपञ्चीकृत पृथ्वी आदि पाँचों महाभूतों से बना- कर्म से उत्पन्न सुख-दुःख आदि केभोगने का साधन, पाँच ज्ञान इन्द्रियों के और एक बुद्धि के, इस भाँति सत्रह कलाओंके साथ जो रहता है वह सूक्ष्म शरीर कहाता है। अर्थात् सूक्ष्म शरीर में पञ्चमहाभूतों के पचीस भाग नहीं होते। कर्म इसका सहायक है। यह सुख दुःख भोग का साधन है। इसमें नेत्र, कर्ण, जिह्वा, नासिका और स्पर्श इन्द्रियाँ रहती है। वाक्, हस्त, पाद गुदा और उपस्थ भी रहते है प्राण, व्यान, समान, उदान और अपान आदि रहते हैं। मनभी रहता है, और बुद्धि भी होती है। इन्हीं सत्रहों कला वाले शरीर को सूक्ष्म शरीर कहते है ॥३॥

अवस्थात्रयं किम् ?

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाः ॥४॥

भाषा अर्थ

प्रश्नः—तीन प्रकार की अवस्थायें कौन-कौन है ?

उत्तरः—प्रथम जाग्रत अवस्था है, द्वितीय स्वप्न अवस्था है और तृतीय सुषुप्ति अवस्था है ॥४॥

– क्रमशः

ध्यान-दीप--

— श्री शिवानन्द

चाहे कोई भी मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता हो अथवा न करता हो, जीवन के अस्तित्व को तो सभी को स्वीकार करना पड़ता ही है। जीवन के मूल स्रोत भीतर ही है और मानव को उनके साथ सम्पर्क एवं सम्बन्ध जोड़कर ही स्थायी शांति सुख एवं संबल प्राप्त होते हैं। ईश्वरवादी मानते हैं कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है एवं ईश्वर का अंश है तथा आत्मसाक्षात्कार करना ही मानो ईश्वर तत्व के साथ एकीकरण है। अथवा, पाप का कल्याण ईश्वर की शरण में जाने पर ही होता है हमारी अशान्ति के कारण हमारे भीतर ही हैं तथा आनन्द का अक्षय भण्डार भी भीतर ही है, हमें दुःख निवृत्ति एवं सुख की उपलब्धि के लिए भीतर ही प्रयत्न करना है।

मनुष्य-देह में इन्द्रियां बहिर्मुखी बनाये हैं और उनके द्वारा बाह्य जगत के साथ क्रिया, प्रतिक्रिया होने पर मनुष्य अपने भीतर अवश्य ही अपनी एक दुनिया को बसा लेता है। यह स्वनिर्मित संसार ही मनुष्य के सुख और दुःख का कारण होता है। विचक्षण व्यक्ति इससे भी परे जीवन के मूल स्रोत के साथ सम्बद्ध होकर स्थायी सुख को प्राप्त कर लेता है। ध्यान-साधना के द्वारा, जो अध्यात्म का मूलाधार है, यह संभव हो सकता है।

आध्यात्मिकता मनुष्य को पलायन नहीं सिखाती है बल्कि उसके अन्तर्मन को सुव्यवस्थित कर उसे कर्म की ओर प्रवृत्त करती है तथा उसे समभावजनित स्थायी सुख एवं शान्ति प्रदान करती है। अध्यात्म एक विज्ञान है, एक कला है, एक दर्शन है। अध्यात्म मानव के जीवन में जीने की कला के मूल रहस्य को उद्घाटित कर देता है। आध्यात्मिक वातावरण मानो मन के जख्मों को धोकर उन पर दिव्य मरहम लगा कर मानव की मानसिक स्वस्थता प्रदान करता है। निद्रा की भांति ध्यान का दैनिक अभ्यास स्वास्थ्य एवं शान्ति के लिए परम आवश्यक है। थकने पर निद्रा कैसी सुखद प्रतीत होती है। निद्रा आने पर मनुष्य श्रेष्ठ, संगीत, आकर्षक पदार्थ एवं भौतिक सत्ता को भी भूल जाता है, वे गौण हो जाते हैं। जाग्रत अवस्था में ध्यान अन्तरंग का एक गहन सुख होता है

को अनिर्वचनीय है। जीवन में अध्यात्म क्या है इसका दर्शन ध्यान द्वारा ही सम्भव है। इसकी तुलना में समस्त सुख फीके प्रतीत होने लगते हैं।

ध्यान कोई तन्त्र-मंत्र नहीं है। मन को विपरीत दिशा में अर्थात् बाहर से भीतर की ओर ले जाना और उसे विचारों के स्रोत के साथ जोड़ देना एक कला है जिसे ध्यान कहते हैं। ध्यान मन की एकाग्रता नहीं बल्कि मन की भीतरी चेतना के साथ जोड़ना है। ध्यान एक साधना है जिसके द्वारा हम अपने भीतर आत्मानन्द उपजाते हैं। केसर सब स्थानों पर उत्पन्न नहीं होती है, उसके लिए उपयुक्त स्थान खोजना होता है तथा एक विशेष पद्धति अपना कर अथक परिश्रम करना होता है। हमें आत्मानन्द उपजाने के लिए भी प्रयत्न (साधना) करना होगा। ध्यान-साधना आत्म-आनन्द प्राप्ति का एक साधन है। ध्यान संपूर्ण मन के मौन के द्वारा उस अवस्थान्तर प्राप्त होने का साधन है जो बुद्धि-ग्राह्य नहीं है। ध्यान के द्वारा मन अपने सीमित ज्ञान एवं अनुभव से अथवा बौद्धिक स्तर से ऊपर उठ जाता है। यह निरा कोई निष्क्रिया अथवा शून्यता नहीं है बल्कि बुद्धि के व्यापार से मुक्त होकर उससे पूरे सूक्ष्म अध्यात्म के सागर में प्रवाहित होना है जो कि स्थूल जगत से परे है, ब्रह्मसूत्र में "आनन्दमय" का भाव करते हुए शंकर कहते हैं कि एक प्रवाह का प्रभाव रहना ही ध्यान होता है। आध्यात्मिक भूमिका में यह प्रवाह परमानन्द का प्रवाह है।

मौन ध्यान का प्रथम चरण है। "मौन" का अर्थ है बाह्य संभाषण छोड़कर अन्तः संचरण करना। "मौन" का अर्थ है, संयम के द्वारा धीरे-धीरे इन्द्रियों तथा मन के व्यापार का शमन (दमन नहीं) होना। मौनं सर्वार्थ साधनम्। मौन समस्त सिद्धियों के मूल में है। मौन स्नान की भाँति मन को ताजा तथा सजग कर देता है। यदि वाणी रजत है, मौन स्वर्ण है। मौन रहकर ही परमात्मा सृष्टि-रचना एवं विश्व-संचालन करता है। प्रभु के साथ संलाप मौन होकर ही संभव होता है। अनुभूति की चरम सीमा मौन होती है। प्रेम, भक्ति और योग चरमावस्था में मौन में परिणत हो जाते हैं। सन्त का मौन उसकी गहन अनुभूति का द्योतक होता है। वाणी-निग्रह संयम का प्रारम्भ है।

हमारे भीतर गहरे स्तर पर आनन्द-स्वरूप आत्मा है जो हमारा निजस्वरूप है। अभी मन उसकी ओर उन्मुख न होकर, बाहर भटक रहा और सुखाभास को सुख समझ रहा है। जब तक हम भीतर आनन्द के स्रोत को नहीं पा लेते, तब तक हम बाहर के सुख की खोज में भटकते हैं, बाहर भोगों से

आकृष्ट होकर उनमें भटकते रहने से भीतर चेतना नहीं सिमट सकती है। ध्यान के द्वारा रसोमय प्रभु के साथ सम्बन्ध जुड़ जाने पर भोगैश्वर्य की प्रवृत्ति निष्प्राण हो जाती है, संस्कार भस्म हो जाते हैं और जीवन एक स्थायी सुख (आनन्द) हो जाता है। जब मन ठीक प्रकार से भीतर की ओर उन्मुख होता है, तब वह स्वयं उसकी ओर तीव्रता से दौड़ता है मानो ढलान पर दौड़ रहा हो। तब चंचल मन भीतरस्थदीपशिखा की भांति स्थिर हो जाता है। गीता कहती है जिस प्रकार शान्त वायु के स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता है, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में संलग्न योगी के जीते हुए चित्त की भी कही गयी है।

यथा दीपो निवातस्थो
नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य
युञ्जतो योगमात्मनः ॥
—गीता ६/१९

जब मन ध्यान के द्वारा आनन्द स्वरूप आत्मा के सिन्धु में निमग्न होकर बाहर निकलता है, तब वह तृप्त एवं प्रशान्त हो जाता है। व्यक्ति की सीमित चेतना असीम चेतना के साथ जुड़ जाती है। मौन की सफलता होने पर ही ध्यान की सफलता होती है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

× × × × ×

मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्
—गीता १०/३८

अर्थात् गुप्त रखने योग्य भावों में मौन भाव भी भगवान का रूप है। मौन प्रभु प्राप्ति का प्रमुख साधन है। महाभारत के उद्योगपर्व में सनत्सुजात धृतराष्ट्र से कहते हैं कि परमात्मा का ही नाम मौन है। क्योंकि वेद भी परमात्मा को नहीं पहुँच पाते और परमेश्वर मौन-ध्यान करने से प्रकाश में आते हैं।

यतो न वेदा मनसा सहैनमनु-
प्रविशन्ति ततोऽथ मौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं
स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥
—उद्योगपर्व ४३/२

मौन की महिमा उद्योगपर्व में मुक्तकंठ गायी गयी है—

सिद्धिरेषेति सदाकार्यं
मौनं सद् ध्यानदीपकम् ।
निष्ठस्य सिद्धये नित्यं
बाह्यवाग्जालमञ्जसा ॥
यतो मौनिनः दक्षाणां
कल्पेऽपि कलहोऽस्ति न ।
मौनेनाशु हि क्षियन्ते
रागद्वेषादयो रसाः ॥

❦ हे गुरुदेव ! ❦

हे गुरुदेव, मुझे सत्यशील, मौनशील और क्षमाशील बनाओ मेरी वाणी को प्रभावशाली बनाओ।

हे गुरुदेव, मैं मन का सतत निग्रह कर सकूं ऐसी शक्ति प्रदान करो।

मेरे सर्वाधिक कठिन प्रश्न हल करो।

हे गुरुदेव, मुझे नम्रता का गुण चाहिए।

ताकि मेरे जीवन का सही विकास हो सके।

हे गुरुदेव, मैं निर्भय होना चाहता हूँ, निर्भयता वैराग्य से आती है।

भय के सब से बड़े कारण—वित्त के मोह को दूर करो और शरीर आसक्ति को दूर करो।

हे गुरुदेव, मुझे शक्ति दो कि मैं स्वयं कभी उद्विग्न न होऊं और न किसी के उद्विग्न होने का कारण बनूं।

ताकि आपका प्यार पा सकूं

—ओम प्रकाश मिश्रा

(पिछले पृष्ठ का शेष)

मौनेन गुणराशिश्च
लभ्यते सकलागमम् ।
मौनेन केवलं ज्ञानं
मौनेन श्रुतमुत्तमम् ॥

अर्थात् बाह्य वाग्जाल को रोककर श्रेष्ठ ध्यान के लिए के लिए दीपक के समान मौन व्रत धारण करें। मौन धारण करने से स्वप्न में भी कलह नहीं होता है। मौनव्रत धारण करने से वागद्वेषादि शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। मौन से गुणराशि प्राप्त होती है, मौन से ज्ञान प्राप्त होता है। मौन से ज्ञान और केवलज्ञान प्रकट होता है। मौन से उत्तमश्रुत ज्ञान प्राप्त होता है। गीता ने मौन की प्रशंसा की है—'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी।' "मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।" मननशीलों के मौन को ही तपस्या में मौन कहा जाता है। मौनी के लिए स्तुति और निन्दा भी एक समान होते हैं क्योंकि वह वृत्तियों के शमन द्वारा निन्दास्तुति से ऊपर उठ जाता है। अतः मननशील मौनी बनने का सदा प्रयत्न करना चाहिए।

—x—

उपवास का दर्शन एवं तंत्र

– योगी श्री हृदयनारायण जी

उपवास से प्रायः भोजन न करने का अर्थ समझा जाता है और इसका लक्ष्य प्रायः पाचन संस्थान को विश्राम देना होता है। उपवास गौण रूप में शारीरिक तथा मुख्य रूप में आध्यात्मिक उद्देश्य से प्रेरित होता है।

उपवास दो शब्दों का यौगिक रूप है। उप और वास। उप का अर्थ है पास और वास का बैठना या वास करना। उपवास का उद्देश्य उस भगवानके पास बैठना है जो शक्ति ज्ञान और आनन्द का अक्षय भंडार है। और अगर हम उपवास करने की सही विधि जान कर इसे अपनायें, तो जिस प्रकार आग के पास बैठने से हम उसकी गुणउष्णता का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार भगवान के पास बैठने से हमें शक्ति, ज्ञान, आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी। परन्तु चूंकि उपवास से भोजन के त्यागमात्र तथा पाचन संस्थान को विश्राम देने का ही अर्थ लिया जाता है, इसलिये यहाँ हम भोजन त्याग के दर्शन एवं तंत्र (प्रविधि) पर ही विचार करेंगे। मानस साधना मंडल की एक सूत्री साधना का यह द्वितीय अवयव है और इसमें युक्तियुक्त उपवास द्वारा अखण्ड शक्ति के जागरण का आश्वासन प्रदान किया गया है।

आपको खोजने पर यत्र-तत्र ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनसे यह प्रमाणित होता है कि भोजन जीवनी शक्ति उत्पन्न नहीं करता वह केवल शरीर का निर्माता तत्त्व है। इस प्रकार भोजन न करने से शरीर का वजन (श्रम से होने वाली टूट-फूट की पूर्ति न होने से) भले ही कम हो जाय पर जीवनी शक्ति का ह्रास नहीं होता, यह निर्विवाद है। परन्तु जन-साधारण का यह अनुभव है और मेरी राय में असत्य नहीं है कि भोजन न करने से उन्हें निर्बलता की प्रतीति होती है और जैसे ही वे पुनः भोजन कर लेते हैं उन्हें श्रम के कार्य करने की शक्ति पुनः प्राप्त होती प्रतीत होती है। आइये इस विरोधाभास के कारणों की छानबीन करें।

इस शरीरमें जीवनकी शक्ति मुख्यतः तीन प्रकार के कार्य करती है। पहला शरीर में भोजन करने पर उसका पाचन करती है, दूसरा हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्धित श्रम के कार्य सम्पन्न करती है और तीसरा शरीर में एकत्र अवांछित विजातीय द्रव्य मल का निष्कासन करती है। इस जीवनी शक्ति को

कुछ स्वाभाविक विशेषतायें भी हैं। उनमें से एक यह भी है कि इन तीन कार्यों में इसका उपयोग कार्येन्द्रियों की श्रम-शक्ति की भाँति नहीं किया जा सकता जिससे जीवनी शक्ति की मात्रा को तीन भागों में बाँट कर एक ही समय में तीनों काम किये जा सकें बल्कि इस का उपयोग एक नौकर की भाँति किया जा सकता है, जो एक समय में एक ही काम भली प्रकार से कर सकता है। उदाहरणार्थ आपने कभी न कभी यह अनुभव अवश्य किया होगा कि जब आप भोजन करने के बाद काम पर जाते हैं तो आलस्य का अनुभव करते हैं और जब किसी कारणवश भोजन किये बिना काम करने जाना पड़ता है तो काम पहले की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्वक और अच्छे ढंग से सम्पन्न होता है। इसका कारण केवल यही है कि जब हम भोजन करते हैं तो जीवनी शक्ति उसे पचाने के काम में लगना चाहती है और हम उसे श्रम के काम में लगाना चाहते हैं। इसी खींचतानी में दोनों में से कोई काम नहीं हो पाता और जब हम बिना भोजन किये श्रम के काम करते हैं तब जीवनी शक्ति केवल श्रम के काम में ही लग जाती है और काम बहुत अच्छा होता है।

इस जीवनी शक्ति की एक दूसरी व्यक्तिगत विशेषता भी है। चूंकि वर्तमान पीढ़ी के मानव के शरीर में मल संचय बहुत अधिक हो गया है इसलिए जीवनी शक्ति को जब भी अवसर मिलता है, वह स्वतः मल-निष्कासन के कार्य में जुट जाती है। इसलिए अगर हम भोजन न करें तो पाचन कार्य से मुक्त जीवनी शक्ति स्वतः मल-निष्कासन के कार्य में लग जाती है। आयुर्वेद में—

"आहारं पचति शिखि
दोषानाहार वर्जितः"

सूत्र में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। शिखि (जठराग्नि के रूप में जीवनी शक्ति) भोजन का पाचन करती है परन्तु आहार न देने पर वही जीवन-शक्ति मल-निष्कासन (दोषों के पचाने) का कार्य करती है। अब अगर शरीर में मल का संचय अधिक हुआ और उसको निकालना भी अति आवश्यक हुआ तो जीवनी शक्ति स्वभावतः यह चाहेगी कि पाचन कार्य से मुक्ति मिलने के साथ-साथ उसे श्रम के कार्य से भी मुक्ति मिले जिससे निष्कासन के आवश्यक कार्य को वह पूरे तौर से सम्पन्न कर सके।

—क्रमशः

आश्रम समाचार—

ꙮ गुरु पूर्णिमा पर्व की सम्पन्नता ꙮ

गुरु पूर्णिमा का पावन पर्व गत आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा दिनांक १२ जुलाई रविवार को आश्रम के सुविशाल प्रांगण में समीपवर्ती तथा दूरवर्ती राज्यों, और उनके ग्राम तथा नगरों से आये हुए कई हजार गुरुभाई बहनों की उपस्थिति में अगाध श्रद्धा- उत्साह और उल्लास के वातावरण में सम्पन्न हुआ। मध्यप्रदेश के अपने योगसाधन आश्रम के महोत्सव में भाग लेने के बाद तथा कुछ अन्य स्थानों पर आयोजित योग प्रचार कार्यक्रमों को पूरा करते हुए पूज्यपाद श्री गुरुदेव भगवान आश्रम पर गुरुपूर्णिमा से कुछ दिन पूर्व ही आ पहुँचे थे। सदा की भाँति वातावरण उनकी उपस्थिति से और भी अधिक चहल-पहलमय बन गया था। रेलों और बस आदि की यात्रा आजकल अधिक व्यय साध्य और कष्ट साध्य होते हुए भी आश्रम में गुरु-पूजन के लिए सद्गुरुदेव के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने हेतु कई हजार साधकों, योग-प्रेमियों दीक्षार्थियों और गुरुभाई बहनों के समुदाय में जो उत्साह और उल्लास पाया जाता उसे देखकर ऐसा लगता रहा कि उपनिषदकाल में ऋषि आश्रमों की स्थापना मानव कल्याण के जिन उच्चतम् उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की जाती थी उसी का प्रतीक अथवा एक मूर्तरूप है सवाई का यह श्री सिद्धगुफा आश्रम। यहाँ के गुरुपूर्णिमा पर आयोजित गुरुपूजन के पावनतम् सार्थक और श्रद्धा समन्वित आयोजन को देखकर कौन यह कह सकता है कि गुरु-शिष्य परम्परा पूर्व काल की जैसी नहीं है इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाश्चात्य शिक्षा व विदेशियों की मिश्रित संस्कृति ने जिसे वर्णाश्रम धर्म रहित संस्कृति कहा जा सकता है, गुरु-शिष्य सम्बन्धों की प्राचीन परम्परा पर व्यापक रूप से कुठाराघात किया है। फिर भी सवाई जैसा आश्रम गुरु-शिष्य सम्बन्धों की प्राचीन परम्परा का जीवित-जागता उदाहरण है, यहाँ के गुरु-पूजन महोत्सव से यह स्पष्ट प्रतीत होता रहता है।

इस वर्ष भी नये साधकों ने भारी संख्या में योग-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षार्थियों को समूह में बाँटकर अलग-अलग समूहों को सामूहिक रूप से ही गुरुभवन में दीक्षा दे दी गई। दीक्षा ग्रहण करने और गुरुदेव के पूजन एवं आरती का क्रम बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से प्रातः प्रभुजी की सामूहिक आरती के पश्चात् से सायंकाल तक शान्तिपूर्वक चलता रहा। विदाई की आज्ञा लेने वाले साधक भाई-बहनों की श्रद्धा भी इस अवसर पर दर्शक के मन पर अपनी एक अलग ही छाप छोड़ती है। आज्ञा लेकर विदा होने वाले गुरु-भाई-बहनों के सजल नयन यह सहज भाव से बता देते हैं कि अपने गुरुदेव के चरणों और उनके सौम्य दर्शन का वियोग उन्हें कितना व्यथित बना रहा है।

गुरुपूजन का इस दिन का कार्यक्रम सम्पन्न होता है उस सहभोज के बाद—जो आश्रम की ओर से प्रभुजी के प्रसाद के रूप में आयोजित किया जाता है।

प्रातःकालीन आरती गान से आरम्भ होकर यह दर्शनीय पावन समारोह सायं-कालीन सामूहिक आरती के पश्चात् श्री गुरुदेव जी के आशीर्वाद और सबके लिए व्यक्त की गई मंगल कामनाओं के साथ सम्पन्न हुआ—इस आशा में कि अगले वर्ष फिर इसी रूप में मिलने का अवसर पा सकेंगे। (हमारे अपने प्रतिनिधि द्वारा)

SIDD. AYOGA—Regd. No. L, AG, 09 Aug. 1984

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ....

....

....

....

उपासना योग

'सत्याऽहिंसा ऽस्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः' यह सूत्र पातञ्जल योग शास्त्र का है। जो उपासना का प्रारम्भ करना चाहे उसके लिए यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रखे, सर्वदा सबसे प्रीति करे, सत्य बोले, मिथ्या कभी न बोले, चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे, जितेन्द्रिय हो लम्पट न हो और निरभिमानी हो अभिमान कभी न करे ! यह पांच प्रकार के यम मिलकर उपासना योग का प्रथम अंग कहलाता है।

उपासना शब्द का अर्थ होता है समीप बैठना। जब तक तू अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन्हीं पांच यमों को धारण करके अपना जीवन तदनुकूल नहीं बनाते तब तक परमात्मा के समीप बैठने के अधिकारी कैसे बन सकते हैं ?